संस्कृति

संस्कृति मंत्रालय
भारत सरकार

अंक : 30

संस्कृति

संरक्षक :
विवेक अग्रवाल, सचिव

मुख्य परामर्शदाता :
डॉ. अरविन्द कुमार, संयुक्त सचिव

सम्पादक :
मनोज कुमार चौधरी, उप निदेशक

उप सम्पादक :
डॉ. ज्योत्स्ना शर्मा, वरिष्ठ अनुवाद अधिकारी

संपादन मंडल :
राजभाषा प्रभाग के समस्त पदाधिकारी

मुख्य आवरण: ओडिसी नृत्य

अंतिम आवरण: बुद्ध के पवित्र अवशेष

संपादकीय पता :
मनोज कुमार चौधरी, उप निदेशक (राजभाषा)
कक्ष संख्या 22108, द्वितीय तल,
कर्तव्य भवन-2, नई दिल्ली-110001
☎ 91 011- 24014248
ई-मेल sanskriti.patrikamoc@gmail.com

अर्द्ध वार्षिक पत्रिका, 2026

(यह पत्रिका मंत्रालय की वेबसाइट : www.indiaculture.nic.in पर उपलब्ध है)

संस्कृति मंत्रालय
भारत सरकार
कर्तव्य भवन-2, नई दिल्ली-110001

संस्कृति पत्रिका में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार और तथ्य लेखकों के हैं, उनसे मंत्रालय या संपादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है और न ही वे उसके लिए जिम्मेदार हैं।

गजेन्द्र सिंह शेखावत
Gajendra Singh Shekhawat

सत्यमेव जयते

संस्कृति मंत्री एवं पर्यटन मंत्री
भारत सरकार
MINISTER OF CULTURE AND
MINISTER OF TOURISM
GOVERNMENT OF INDIA

संदेश

भारतीय संस्कृति की अस्मिता विशुद्ध प्रज्ञा,अद्वैत की एकात्मता और बुद्ध की करुणा का विस्तार है। भारत ने संपूर्ण विश्व के चिंतन को नई दिशा प्रदान की। जहां एक ओर आदि शंकराचार्य का अद्वैत दर्शन है तो वहीं महाकारुणिक बुद्ध का धम्म। अद्वैत वेदांत दर्शन चेतना का वह शिखर है जहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद मिट जाता है। 'तत्वमसि' का उद्घोष हमें यह बोध कराता है कि संपूर्ण चराचर जगत एक ही परमसत्ता का विस्तार है।

जब हम 'सर्वभूतेषु' के भाव से ओत प्रोत होकर स्वयं को सभी प्राणियों में देखने लगते हैं, तब हर प्रकार के संताप और द्वंद्व का अंत हो जाता है। अद्वैत केवल एक नीरस बौद्धिक विमर्श न होकर 'अमृतत्व' की प्राप्ति का वह मार्ग है जो मनुष्य को संकीर्णताओं से मुक्त कर उसे ब्रह्मांड की चेतना होने का अनुभव प्रदान करता है।

भगवान बुद्ध की ज्ञान परंपरा ने मानवता को 'अप्प दीपो भव' यानी अपना दीपक स्वयं बनो का मंत्र देकर एक तर्कपूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की। बुद्ध ने 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के माध्यम से अंधविश्वासों पर प्रहार किया और 'करुणा' को जीवन का एकमात्र उद्देश्य बताया। बौद्ध दर्शन हमें ध्यान के माध्यम से यह अनुभव प्रदान करता है कि निर्वाण कोई बाहरी तत्व नहीं है, यह तो चित्त की शुद्धि का प्रतिपालन है। बुद्ध का 'मध्यम मार्ग' आज के अतिवाद और युद्ध की विभीषिका से जूझ रहे विश्व के लिए संतुलन का एकमात्र सूत्र है, जो अहंकार के परित्याग का आह्वान करता है। आज जब सम्पूर्ण मानव जाति विखंडन के दौर से गुज़र रही है तब भारतीय दर्शन मेधा और प्रज्ञा ही 'अष्टांगिक मार्ग' का एकमात्र विकल्प है।

जीवन को वास्तविक अर्थ प्रदान करने वाली भारतीय संस्कृति और दर्शन के विभिन्न तत्वों को समेटे हुए संस्कृति पत्रिका के इस अंक के लिए मेरी हार्दिक शुभकामनाएं।

वन्दे मातरम्!

(गजेन्द्र सिंह शेखावत)

विवेक अग्रवाल
सचिव
Vivek Aggarwal
Secretary

भारत सरकार
संस्कृति मंत्रालय
नई दिल्ली-110001

GOVERNMENT OF INDIA
MINISTRY OF CULTURE
NEW DELHI-110001

संदेश

भारतीय संस्कृति का आधार वह 'संस्कार' है, जो सृष्टि के कण-कण को एक सूत्र में पिरोता है। हमारी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मेधा ने समय की कसौटी पर स्वयं को बार-बार प्रमाणित किया है और इसी भारतीय ज्ञान परंपरा ने मुखरित होकर अपनी मेधा और प्रज्ञा से विश्व को अचंभित किया है।

भारत की ज्ञान परंपरा 'श्रुति' और 'स्मृति' के माध्यम से प्रवाहित हुई। सहस्त्राब्दियों से भारत ने विश्व की सबसे समृद्ध पाण्डुलिपि परंपराओं को ताम्रपत्र, भोजपत्र, हस्तनिर्मित कागज़, सांचिपत्र, कपड़े और अन्य सामग्रियों पर अंकित किया है। इन पाण्डुलिपियों में आयुर्वेद, खगोलशास्त्र, गणित, चिकित्सा और शासन से लेकर दर्शन, काव्य, अध्यात्म और कला संबंधी ज्ञान समाहित है। ये केवल अतीत की धरोहर नहीं, अपितु भारत की जीवंत और प्रबल प्राचीन सांस्कृतिक विरासत है। हमारी ज्ञान परंपरा केवल सूचनाओं का संग्रह मात्र नहीं, अपितु 'प्रज्ञा' का पुनर्जागरण है।

इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने एक अप्रतिम पहल की शुरुआत की जिसे 'ज्ञान भारतम्' के नाम से सुशोभित किया गया। इस पहल के अंतर्गत पाण्डुलिपियों को पुनः खोजने, संरक्षित करने, डिजिटाइज करने और उन्हें राष्ट्रीय डिजिटल भंडार में साझा करने संबंधी महत्वपूर्ण कदम उठाए गए ताकि इन्हें आगामी पीढ़ियों के लिए संरक्षित और सुरक्षित किया जा सके। माननीय प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी द्वारा परिकल्पित, राष्ट्रीय डिजिटल रिपॉजिटरी की स्थापना राष्ट्र की विशाल पाण्डुलिपि धरोहर के संरक्षण, डिजिटाइजेशन और प्रचार प्रसार की दिशा में एक ऐतिहासिक कदम है।

हमें अपनी विरासत को आधुनिक तकनीक, प्रौद्योगिकी, नवाचार और वैज्ञानिक शोध के माध्यम से पुनर्व्याख्यायित करना होगा। हमारे संस्कारों में निहित भारतीय संस्कृति की अस्मिता इस बात पर निर्भर है कि हम अपनी 'सांस्कृतिक जड़ों' को कितना गहरा सींचते हैं। इस प्रज्ञा का प्रतिनिधित्व करती हुई संस्कृति पत्रिका के प्रस्तुत अंक हेतु मेरी हार्दिक शुभकामनाएं।

विवेक
(विवेक अग्रवाल)

डॉ. अरविन्द कुमार
संयुक्त सचिव
DR. ARVIND KUMAR
Joint Secretary

भारत सरकार
संस्कृति मंत्रालय
नई दिल्ली-110001
GOVERNMENT OF INDIA
MINISTRY OF CULTURE
NEW DELHI-110001

संदेश

भारत मात्र एक भौगोलिक इकाई नहीं, अपितु एक जीवंत 'संस्कृति प्रधान' राष्ट्र है। हमारी पहचान उस अदृश्य चेतना में निहित है जो वेदों की ऋचाओं से लेकर लोक-संवेदनाओं तक प्रवाहित होती रही है। यह ऐसी अद्वितीय ज्ञान परंपरा है जहाँ विज्ञान और विवेक का मिलन आत्मा की अनुभूति से होता है। आज के इस परिवर्तनकारी युग में, हमारी शिक्षा नीति और बौद्धिक विमर्श का केंद्र वही होना चाहिए जो हमारी आत्मा को अनुप्राणित करता हो।

माननीय प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी जी के नेतृत्व में अपने राष्ट्र की संस्कृति को पुनः परिभाषित करने और अपनी विरासत को पुनः प्राप्त करने में हमारे प्रयास सफलीभूत हुए हैं। ऐसे ही एक ऐतिहासिक अवसर का सम्पूर्ण विश्व साक्षी बना जब भगवान बुद्ध के पिपरहवा रत्न अवशेषों की 127 वर्षों के बाद भारत में वापसी हुई। भगवान बुद्ध के इन पवित्र अवशेषों को प्रदर्शित करने के लिए किला राय पिथौरा में विशेष प्रदर्शनी का आयोजन किया गया। यह प्रदर्शनी भगवान बुद्ध की शिक्षाओं के साथ भारत के गहरे और निरंतर सभ्यतागत संबंध को परिलक्षित करती है। भगवान बुद्ध की शिक्षाएं आधुनिक समय में शांति, स्थिरता और विकास के लिए अत्यंत प्रासंगिक हैं।

जीवन का वास्तविक ध्येय 'पूर्णता' की खोज है। व्यक्ति से समष्टि, और समष्टि से परमेष्टि तक की यात्रा है। यह पत्रिका भारत की सभ्यतागत संकल्प के भाव को समर्पित है। मुझे विश्वास है कि इस अंक के माध्यम से हम अपनी प्रबुद्ध शुद्ध मेधा और भविष्य के संकल्पों के बीच एक सेतु बनाने में सफल होंगे।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शुभकामनाओं सहित,

अरविन्द कुमार

(डॉ. अरविन्द कुमार)

संपादकीय

भारतीय संस्कृति शील, क्षमा, दया, त्याग और करुणा का वह समन्वित योग है जो विश्व में अद्भुत और अद्वितीय भारतीय प्रज्ञा के समन्वय से समृद्ध हुई है। वैश्विक संकट से निपटने के लिए आज प्रत्येक व्यक्ति को अद्वैत दर्शन के 'आध्यात्मिक एकता' के सिद्धांत और बौद्ध परंपरा प्रदत 'सामाजिक समरसता' और 'अहिंसा' के पथ पर चलने की आवश्यकता है। नालंदा और विक्रमशिला जैसे महान विश्वविद्यालयों में इस ज्ञान परंपरा का मंथन हुआ, जिससे भारत 'विश्व गुरु' के आसन पर प्रतिष्ठित हुआ। हमारी कला, मूर्तिकला और स्थापत्य में—चाहे वे अजंता की गुफाएं हों या शंकराचार्य के मठ, कश्मीर में शारदा पीठ या केरल मे पद्मनाभ मंदिर- 'निर्गुण' और 'सगुण' का सुंदर संतुलन परिलक्षित होता है।

आज के समकालीन समाज में अद्वैत हमें 'अपनत्व' सिखाता है और बुद्ध की करुणा हमें 'सेवा' के लिए प्रेरित करती है। हमारी भारतीय ज्ञान परंपरा और संस्कारों से ओत प्रोत संस्कृति का संदेश केवल संदेश मात्र न होकर हर व्यक्ति को इस बात के लिए प्रेरित भी करता है कि हम ज्ञान को व्यवहार में परिणत करें क्योंकि ज्ञान वही है जो मुक्त कर दे—*सा विद्या या विमुक्तये*।

हमें अपनी इस विरासत को केवल ग्रंथों में नहीं, अपितु अपने आचरण में जीवंत करना होगा। जब हम अद्वैत की 'दृष्टि' और बुद्ध के 'शील' को आत्मसात करेंगे, तभी हम एक ऐसे समाज का निर्माण कर पाएंगे जो प्रज्ञावान हो और समवेदनाओं से परिपूर्ण हो । यही भारतीय संस्कृति का शाश्वत संदेश है। नालंदा और तक्षशिला जैसे केंद्रों ने —"आनो भद्रा: क्रतवो यन्तु विश्वतः" अर्थात् कल्याणकारी विचार चारों दिशाओं से हमारे पास आएं के मंत्र वाक्य को चरितार्थ किया। आज के विघटनकारी युग में भी भारतीय संस्कार मुखर होकर जय घोष कर रहे हैं और इसी भाव को लेखों के माध्यम से प्रस्तुत अंक में सँजोया गया है। आशा है कि सुधि पाठक इन्हीं इंद्रधनुषी भावों से परिपूर्ण इस अंक से इन भावों को ग्रहण करेंगे।

(मनोज कुमार चौधरी)

उप-संपादकीय

भारत, ध्यान और अध्यात्म का उद्गम स्थल होने के नाते, सदियों से वैश्विक संस्कृति को प्रभावित करता रहा है, जो योग, ध्यान, प्राणायाम, आयुर्वेद और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के दर्शन के माध्यम से आंतरिक शांति, सार्वभौमिक सौहार्द और समग्र कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है। वैश्विक परिदृश्य में भारतीय संस्कृति भारत की उत्कृष्ट सॉफ्ट पावर के रूप में उभरी है, जो भौतिकता से परे आत्म-साक्षात्कार और वैश्विक सद्भाव पर जोर देती है। आज का युग गति, प्रौद्योगिकी और वैश्वीकरण का है। इस बदलते दौर में अक्सर यह चिंता सताती है कि क्या हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृति और उसके शाश्वत मूल्य कहीं खो जाएंगे? हमें यह समझना होगा कि आधुनिक होने से अभिप्राय पाश्चात्य संस्कृति का अनुसरण करना या अपनी जड़ों से कट जाना कतई नहीं है। आधुनिकता का अर्थ, वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ अपने नैतिक मूल्यों का संवाहक बनना है। हम सोशल मीडिया और डिजिटल तकनीक से अपनी लोक कलाओं, भाषाओं और गौरवशाली इतिहास को संरक्षित, परिरक्षित और प्रसारित कर रहे हैं। भारतीय संस्कृति 'सर्वे भवंतु सुखिनः' का संदेश सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण हेतु प्रतिपादित करती है। आज की मानसिक अशांति और अत्यधिक भौतिकवाद के दौर में पूरी दुनिया शांति हेतु इसी भारतीय दर्शन की ओर उन्मुख है।

संस्कृति पत्रिका के प्रस्तुत अंक में संस्कृति के इन्हीं अद्वितीय तत्वों को विभिन्न लेखों के माध्यम से सुधि पाठकों तक पहुँचाने का प्रयास किया गया है। इस अंक में बनारस की ठुमरी का रस और कथक का सौन्दर्य बोध है। भारत की आध्यमिक धरोहर, विरासत और इतिहास को सँजोय हुए नारायण सरोवर, रामायण की उपदेयता और भारतीय लोक परंपरा है जिनका प्रभाव भारत की संस्कृति में गीत, संगीत, नाटक और लोक कथाओं के माध्यम से प्रत्युत देखने को मिलता है। यह सभी लेख एक ऐसे समाज का निर्माण करने में योगदान देते हैं जो विचारों से वैश्विक हो, परंतु संस्कारों से विशुद्ध भारतीय हो।

ज्योत्स्ना

(डॉ. ज्योत्स्ना शर्मा)

विषय क्रम

पृष्ठ संख्या

1. नृत्य जीवन का आधार एवं कथक नृत्य में सौंदर्य बोध — 1-5
पद्मश्री सुश्री नलिनी-कमलिनी

2. बनारस की ठुमरी : राग, रस और आत्मा की अनंत यात्रा — 6-9
पद्मश्री डॉ. सोमा घोष

3. प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन : चार आर्य सत्यों का महत्व — 10-12
डॉ. ठिनलस म्युरमेद

4. मंडयाली धाम: लोक व्यवहार, स्वाद और सेहत का अनूठा समावेश — 13-17
रेवती सैनी

5. कच्छ के धार्मिक स्थल नारायण सरोवर और कोटेश्वर — 18-21
विवेक मेहता

6. हस्तिनापुर : धर्म, इतिहास और सभ्यता की आदि भूमि — 22-23
दीपक भारद्वाज

7. पूर्वांचल का अद्भुत शिल्प-मूंज शिल्पकला — 24-26
संगीता

8. भारतीय संस्कृति में मंत्र — 27-30
शशिबिन्दुनारायण मिश्र

9. युग चेतना के परिष्कार में रामायण की उपादेयता — 31-36
गीता रस्तोगी ''गीतांजलि''

10. भारतीय ज्ञान परंपरा एवं लोककथाएँ — 37-41
डॉ. संध्या सिलावट

11. सनातनी प्रणाम पद्धति की सामाजिक प्रासंगिकता — 42-43
शिवकुमार बिलगरामी

12. राजस्थान का प्रसिद्ध त्योहार गणगौर — 44-48
डॉ. सुष्मिता बोहरा

13. सात समंदर पार संस्कृति और संस्कारों की जीवंत यात्रा **49-50**
ऊषा शर्मा

14. गाड़िया लोहार- सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य **51-54**
डॉ. कीर्ति माहेश्वरी

15. हिंदी और अन्य भारतीय भाषाएं **55-56**
डॉ. रामचन्द्र रमेश आर्य

16. भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत भाषा : एक सांस्कृतिक अनुशीलन **57-60**
डॉ. सुमन प्रसाद भट्ट

17. रामदरश मिश्र की ग़ज़लों में लोक संस्कृति और शहरी जीवन **61-64**
सृष्टि सिंह

18. रामधारी सिंह दिनकर और सुब्रमण्यम भारती की कविताओं में राष्ट्रीय चेतना **65-67**
डॉ. राजलक्ष्मी कृष्णन

19. अभिनय की परंपराएँ और सिद्धांत **68-70**
आलोक शुक्ला

20. संस्कृति- संस्कार और समाज **71-73**
गोवर्धन यादव

21. राष्ट्र की चेतना का आधार है संस्कृति **74-76**
डॉ. वेदप्रकाश

22. बुंदेली चौका से पूर्वांचलिया कोहबर **77-79**
डॉ. नवीन सिंह

23. अवधीय राम भक्ति और पूर्वोत्तर की रामधारा द्वारा भाषाई और सांस्कृतिक सेतु का निर्माण **80-84**
प्रशान्त कुमार द्विवेदी

24. लकड़ी से पत्थर तक: सांची स्तूप बाड़े का विकास- क्रमांक 2 स्तूप **85-89**
डॉ. अश्विनी अस्थाना

नृत्य जीवन का आधार एवं कथक नृत्य में सौंदर्य बोध

सुश्री नलिनी-कमलिनी (पद्मश्री)
वरिष्ठ कथक नृत्यांगना

जीवन नृत्य है, और नृत्य ही जीवन है, नृत्य की गरिमा उसकी इस जीवतंता को परिभाषित करती है। नृत्य, धार्मिक, समाजिक, प्राकृतिक और साहित्यक पहलुओं से ओत-प्रोत है, भारतीय नृत्य विधा से जीवन का कोई भी पहलू अछूता नहीं रहा है।

भाव-विचार अभिव्यक्ति से परिपूर्ण इस विधा में भाव, आधार है विचार का तथा विचार के मंथन, अभिव्यक्ति की क्षमता, जीवन में कर्म की गति से नृत्यकार, मानव से मनुष्यता के श्रेष्ठतम बिन्दू को प्राप्त करने में सहायक होती है। कर्म जीवन का आधार है, वैचारिक मंथन से यदि ज्ञान अर्जित कर भी ले तो, उसकी सार्थकता को प्रमाणित करने के लिए, कर्म का आश्रय लेना ही होता है।

नृत्य में निरंतर ज्ञान की धूरी पर, कर्म से अभिव्यक्ति की तारतम्यता चलती रहती है, इसमें निराकार को आकार देकर साकार कर कलाकार दर्शकों के अपना अध्यात्मिक ऊर्जा से बाँधे रखता है। निरंतर अभ्यास से इस साधना को तथा इसकी क्षमता को बनाये रखना, नित्य कर्म में से एक हो जाता है, वैचारिकमत-भेद होने के बावजूद भी नृत्यकार और संगतकार, सुर-लय-ताल, भाव-विचार, अभिव्यक्ति के अनुशासनात्मक बंधन में इस तरह बंधे होते हैं कि अपने ध्येय को प्राप्त करने में बाहरी मतभेद इसमें कोई आघात नहीं होने देता।

मंच में प्रदर्शन के लिए भी जितना समय बिताना है उतने में ही अपनी प्रस्तुति पूर्ण कर मंच को आनेवाले कलाकार को सौंपना होता है, जीवन का भी यही नियम है।

भारत के शास्त्रीय नृत्यों के माध्यम से वहाँ की प्रांतीय संस्कृति, जीवनशैली, भाषा, बोली, साहित्य की भिन्नता स्पष्ट होती है।

नृत्य उल्लास की चरम सीमा है, आनंद का स्त्रोत, मानसिक कल्पना तथा वैचारिक अभिव्यक्ति का दर्पण। "नृत्य एक अंतर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में "इस मान्यता को सिद्ध करता है जहाँ शब्द मौन हो जाते हैं और भाव-बोलते हैं।

भाषा समाज की देन है और भाव ईश्वरीय (प्राकृतिक), इन दोनों की एकरुपता और साहिता नृत्य को समाज से जोड़ते हैं। मानवीय संवेदना से परिपूर्ण नृत्य विद्या, सम्पूर्ण विश्व में सुसंस्कृत समाज को अपने में समेटे हुए हैं। वही लोक नृत्य की परम्परा और जनजाति नृत्य आदि, क्षेत्रिय रीतियों से परिपूर्ण अपनी परम्परा का निवार्ह करते है। उदाहरण स्वरूप यह नृत्य गीत मंदिरों में अष्ट सेवा हेतु ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए उनकी महिमा का वर्णन दिनचर्या में निरंतर नृत्य के माध्यम से किया जाता है जिसमे प्रमुख रूप से स्तुति, भजन, कीर्तन है तथा उत्सव, नृत्यगीत, संस्कार नृत्य तथा सुप्रभात ऋतु गीत और लोरी दिनचर्या का अंग है, यही इस बात को प्रमाणित करता है, कि संगीत नृत्य जीवन का आधार है, जहाँ नृत्य नहीं वहाँ गति नहीं, आनंद, उत्सव, मनोरंजन नहीं, केवल नीरसता ही नीरसता क्योंकि संगीत नहीं तो रस नहीं, रस नहीं तो प्रतिक्रिया नहीं तो जीव ओर निर्जीव का भेद नहीं रह जाता।

हमारी संस्कृति ब्रम्हनाद की साधना की संस्कृति है, जो मोक्ष प्राप्त करने के मार्ग को प्रशस्त करती है। हमारे वेद जीवन जीना सीखते है, चारों वेद सफल जीवन शैली हेतु सूत्रों को परिभाषित करते हैं। पंचम वेद नाट्य शास्त्र में कला लोकरंजन से आत्मरंजन और आत्मरंजन से परमात्मरंजन की व्याख्या करता है। अर्थात् कला केवल मनोरंजन ही नहीं जीवन मूल्यों का अधार है। कला अर्थात् जीवन जीने का कौशल, गुरु के प्रति समर्पण, अनुशासन, निरंतर परिश्रम करने की पद्धति, अपने संस्कृति को गहराई से जानने, पहचानने और सतत अभ्यास से कुशलता पूर्वक सफल होने की प्रेरणा हमें कला साधना से मिलती है। कला ईश्वर तक पहुंचने का सहज व सरल माध्यम है।

ऐसे में हमारे पौराणिक सांस्कृतिक ऐतिहासिक शास्त्रों की कथाएं जिसमें हमारी संस्कृति, धर्म, और परंपराओं के स्तंभों के प्रति आस्था औरअपनी परंपराओं को मजबूती से पालन कर सके सिखाया जाता था। मध्य युग मे इन सभी से हटकर व्यक्ति विशेष के प्रति केंद्रित दिशा में कत्थक को ले जाया गया, या कहे जानबूझकर मोड़ा गया। भक्ति की पवित्रता से नृत्य शैली को केवल मुजरा या श्रृंगार के अन्य पक्षों का माध्यम बना दिया गया। जहां हमारे शास्त्रों पर आधारित पौराणिक कथाएं नृत्य संरचनाएं वाम मार्ग से हटाकर सत मार्ग पर चलने के लिए एक माध्यम होती थी, मुगलकालीन इतिहास में कत्थक को अपनी समृद्ध परंपरा को छोड़कर मनोरंजन के माध्यम के अलावा और कोई महत्व नहीं दिया गया। किंतु मुगल शासन के समय एक बहुत लंबे काल तक कत्थक नृत्य को निम्न स्तर तक ले जाया गया था। वाराणसी घराने के नृत्य शिरोमणि गुरु जितेंद्र महाराज ने पुनः कथक की प्रचीन मंदिर नृत्य शैली को अथक प्रयास से उजागर किया।

कथक नृत्य-दर्शन

आदर्शोन्मुख कथक नृत्य सृष्टि के आध्यात्मिक स्वरूप का परिचायक है। अधिकांश विद्वानों ने नृत्य को मन के उल्लास प्रकट करने का सहज व स्वाभाविक जीवनसाधन माना है। नृत्य के दो रूप हैं- व्यापक तथा संकुचित व्यापकरूप में यह सृष्टि के प्रत्येक कण में विद्यमान है इसलिए यहाँ साध्य व साधन का भेद नहीं होता है। मानव बुद्धि की सीमित दृष्टि से फलित संकुचित रूपमें "नृत्य पुरुषार्थ" है। इसका उदात्त आदर्श है- "सर्वमंगल की कामना"। नृत्य रूपी पुरुषार्थ का अनुष्ठान करने वाले सहभागी पुरुष (साधक) का ज्ञाता, कर्ता व भक्ताइन तीन पक्ष से युक्त होना आवश्यक है। ज्ञाता का तात्पर्य नृत्य के

वास्तविक स्वरूप का बोध वाला विवेकी व्यक्ति है। कर्ता का अभिप्राय ऐसे व्यक्ति से है जो अपनी इच्छा-शक्ति से अपनी नियति का नियमन कर जीवन प्रवाह को उचित दिशा प्रदान करता है, इसके लिए कर्ता का विवेकी होना अत्यन्त आवश्यक है। भक्ता का तात्पर्य अपने नृत्य रूपी कर्म से जनित फल का स्वपान के साथ ही दूसरे के साथ भी सहभागी होता है।

विवेकशील नर्तक जब अपने आन्तरिक भावों को नृत्य के माध्यम से दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत करता है तब उसका एकमात्र उद्देश्य अपने सद्भावों के माध्यम से दृष्टा के मन में सुप्त पड़े भावों को झंकृत कर उसकी रसमयी चेतन अवस्था को जागृत करना होता है। जिस प्रकार रस की उत्पत्ति भाव के बिना संभव नहीं है उसी प्रकार बिना भावके सुव्यवस्थित और संतुलित संचलन भी संभव नहीं है। कथक भाव प्रधान नृत्य है। प्रचलित है "कथनं करोति कथकः"। अर्थात् जो कथन करता है वह कथक है। कथक परंपरा की प्राचीनता का उद्घोष महाभारत, पुराण तथा नाट्यशास्त्र में प्राप्त होता है। कथक नृत्य वस्तुतः साधना का विषय है जिसे साथ कर मनुष्य परमानन्द की अनुभूति करता है। कथक मात्र एक नृत्य नहीं है अपितु जीवन है। कथक...नृत नृत्य साधना में रत साधक केवल नृत्य नहीं करता है अपितु वह नृत्यमयी जीवन को जीता है ऐसा अतुलनीय और अवर्णनीय जीवन परमश्रद्धेय व अनुकरणीय है क्योंकि कथक साधक उस सूर्य के समान है, जो अपने भाव रूपी प्रकाश से जगत में व्याप्त सभी अंधकाररूपी अभावों को दूर करता है। दार्शनिक दृष्टि से निष्पक्ष भावों की नृत्य के माध्यम से प्रस्तुति ही कथक है।

कथक नृत्य में जब नर्तक किसी कथानक को प्रस्तुत करता है तब वह कथानक के सभी पात्रों में अकेला ही विभिन्न भावों के द्वारा प्रस्तुत होता है जिसमें निष्पक्षता का भाव विद्यमान रहता है। नर्तक निष्पक्षता के गुण के बिना कथानक के पात्रों के भावावेश को जीवन्त नहीं कर सकता। अतः कथक नृत्य साधना में नर्तक सर्वप्रथम कथानक पात्रों के भावावेशों से तटस्थ रहता है किंतु जब कथानक को मंच पर प्रस्तुत करता है तब वह कथानक के सभी पात्रों के भावों को क्रमबद्ध व्यवस्थित रूप से संजोकर अपने भावों में जीवित करता है जिसके परिणाम स्वरूप नर्तक के बनाये हुए भावमयी-भंवर में दर्शक भाव-विभोर हो जाते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कथक नृत्य में भाव के साथ लय और ताल का भी विशेष महत्व है। कोई भी भाव लयता से रहित और ध्वनि शून्य नहीं हो सकती है। लय के उत्कृष्ट रूप के गूँज में ही शुद्ध भाव सन्निहित होता है जिसकी अनुभूति हम अपने व्यवहारिक जीवन में स्पष्ट रूप से कर सकते हैं। निसंकोच सपक्षता रहित सत् ज्ञान होना चाहिए। ताल नृत्य के तल को स्पर्श करते हुए भावों को व्यवस्थित स्थान प्रदान करता है। कथक नृत्य के अन्तर्गत अनेक तालों का वर्णन मिलता है।

सभी ताल नर्तक के भावों को झंकृत कर समुचित स्थान प्रदान करते हैं। इससे नर्तक को एक आधार प्राप्त होता है। इससे यह ज्ञात होता है कि लय और ताल भावों की उत्पत्ति व प्रस्तुति में सहायक व आवश्यक हैं। वस्तुतः नृत्य एक आध्यात्मिक पथ है जिस पर चलने के लिए भाव रूपी आस्था साथ लय और ताल का परिज्ञान होना आवश्यक है। सृष्टि की अनोखी और आश्चर्यजनक छँटा को देखकर यह ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण सृष्टि में द्वैतात्मकता विद्यमान है किंतु यह द्वैतात्मकता ही परमतत्व नहीं है अपितु द्वैतात्मकताका मूल अर्थात् एकात्मकता ही परम तत्व है। द्वैत (जैसे-लय और ताल) तो अद्वैत (नृत्य या गति) की सिद्धि का एक साधन मात्र है जिसका स्वयं में मूल्यव महत्व है। मनुष्य द्वैत से ऊपर उठने पर ही पूर्णता को प्राप्त होता है। नृत्य मे वह (ईश्वर) तुम्हारे साथ होता है। "पाओगे उसे तो तुम नाचोगे और नाचोगे भी उसके आने से, वह गुनगुनाएगा और तुम नाचोगे जब वह, वह नहीं रहेगा तुम, तुम नहीं रहोगे, जब वह और तुम एक हो जाओगे तब तुम्हारी लेखनी में तुम्हारी वाणी में तुम्हारे नृत्य में उसका आभास होगा और यहीं आगाज़ होगा"। नृत्य सदैव मनुष्य को उसके आध्यात्मिक स्वरूप से अवगत कराता रहा है। इसलिए एक सच्चे साधक को ही यह ज्ञान रहता है कि अत्यधिक भौतिकता में फलित नृत्य के तिरस्कार में ही नृत्य का विशुद्ध स्वरूप तथा सात्विक नृत्य साधना का भविष्य सुरक्षित है। कथक नृत्य अत्यन्त सूक्ष्म, निर्मल व सद्भाव से परिपूर्ण तत्व है जिसके शुद्ध स्वरूप का दर्शन आस्था, श्रद्धा एवं सतत् अभ्यास के द्वारा ही संभव है। लय, ताल व भाव इसकी आधारशिला हैं।

भावों के क्रियात्मक स्वरूप में ही रसों की उत्पत्ति का सामर्थ्य निहित है। किन्तु भौतिकतावादी विचारधारा के फलस्वरूप शब्दों में आबद्ध भावों की अभिव्यक्ति विभिन्न प्रकार के प्रलयंकारी रूपों में होती है। अतः आज सर्वप्रथम यह आवश्यक हो गया है कि मनुष्य की मानसिक कार्य कुशलता व गुणवत्ता को बढ़ाया जाये ताकि आधुनिक नृत्य में रिक्त पड़े आध्यात्मिकता की कड़ी का उसे ज्ञान हो सके और उस रिक्त कड़ी को पूरा किया जा सके।

संक्षेप में कथक नृत्य एक भाव प्रधान आध्यात्मिक साधना है जिससे भोग की पुष्टि, योग की तुष्टि एवं रोग की निवृत्ति होती है। इसलिए साधक को कथक नृत्य में निहित सार्थक, सक्षम व प्रभावात्पादक तत्वों के निहितार्थ को समझकर विवेक द्वारा साधना का उत्तम मार्ग चयन करना चाहिए। इस प्रकार अध्यात्मपरक नृत्य सम्पूर्ण सृष्टि के कल्याणकारी है।

अनंतब्रह्मण्ड ही नृत्यमय है। अपनी ऊँचाइयों पर कोई नृत्य केवल नृत्य नहीं रह जाता बल्कि उसकी लय में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड नवग्रहों सहित स्वयं की प्रतिछाया पाता है। लय या निगति जो इस सम्पूर्ण सृष्टि की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है और जिसके दौरान जीवन के विभिन्न रूप अपनी विविधता के बावजूद कहीं किसी एक सूत्र में जुड़े होने का संकेत देते हैं। सुख-दुख, आशा-निराशा और विभिन्न मनोभावों में केवल जीवन ही नहीं थिरकता बल्कि एक कदम आगे बढ़कर विभिन्न मानवीय मूल्य भी अभिव्यक्ति पाते हैं। वे मानवीय मूल्य जो हमें पर मसत्ता से जोड़ते हैं और इनमें डूब-डूब जाना स्थूल जीवन को विराट से जोड़ने की एक सार्थक अभिव्यक्ति है। एक ऐसी स्थिति जहाँ हमारा साधारण अस्तित्व असाधारण से साक्षात्कार करता है। गूढ़ कथन है:

"खुसरो नदिया प्रेम की जाकी उल्टी धार।
जो उबरा सो डूब गया और जो डूब गया सो पार।।"

विचारणीय भाव

भाव विचार अभिव्यक्ति भाव से विचार, विचार से भाव उत्पन्न होते हैं परंतु विचार से उत्पन्न भाव अभिव्यक्ति का माध्यम ढूंढते हैं। कथक नृत्य कला ही वह सशक्त माध्यम है जो इस भावपूर्ण अभिव्यक्ति को प्रस्तुत करने में सहायक होती है। नृत्य माध्यम से यह अभिव्यक्ति सुर-लाय-ताल की स्पष्ट तालमेल से साकारात्मक रूप से अभिव्यक्त होती है ये निरंतरता, गतिमय होने के करण सजीव रूप से दर्शक के मनोभाव को अनुभूति से प्रेरित करती है फलस्वरूपकला और कलाकार की एकरूपता से दर्शक सहज रूप से मंत्रमुग्ध हो एकाकार हो जाते हैं।

कथक नृत्य में रसानुभूति एवं सौन्दर्यबोध वो अमूल्य सारतत्व है जिनके बिना नृत्य की कल्पना भी नही की जा सकती। कथक के थिरकते नृत्य कदम जिस आनंद, रस व सौन्दर्य का वैभव बिखेरते हैं वह क्षितिज में बिखरे अन्तहीन सौन्दर्य रूपी रस की तरह होता है। कथक देह का उत्सव है, देह की सम्पूर्णता की कला है। इसमें तन व मन एकाकार होकर आत्मिक सौन्दर्य का द्वार खोलते हैं। ऐसी विधा हैजो जीवन के सम्पूर्ण मूल्यबोध को समेटे होती है- रसानुभूति हेतु। कुछ भी काल्पनिक-न होकर सब कुछ सहज, स्वाभाविक है; जो अपने आपको आसानी से दूसरों के साथ इस तरह से जोड़ ले, जिसमें भाव, लय, ताल व स्वरों की अभिव्यक्ति को दर्शाने के लिए किसी विशेष साधन का सहयोग न लेना पड़े बल्कि स्वयमेव इसकी एक-एक परत खोलते हुए, अपने आपको व्यक्त कर दे। ऐसे ही कला की पराकाष्ठा को प्रस्तुत करने की क्षमता है कथक में।

एक नृत्यकार नायिका के एक ही भाव को अनगिनत रूपों-क्रोध, श्रृंगार, विरह, विनय, उपेक्षा, लालसा, कामना, अद्भुद, आतुरता से व्यक्त करते हुए सर्वप्रथम खुद आनंदित होकर,कला-रसिकों को कथक का सौन्दर्य बोध कराता है।

यह भी अत्यन्त आवश्यक हो जाता है जब कलाकार रंगमंच पर होता है तो वह कला "उसका जीवन-रंगमंच पूजास्थल और दर्शक भगवान" होते हैं फिर स्वान्तः सुखाय के साथ-साथ प्रेक्षागृह में या उन स्थलों में विराजमान दर्शकों के मान, उनकी लालसा, इच्छा और आनंद को चौमुखी रूप से द्विगणित करने की सम्पूर्ण दायित्व, नृत्यकार या कलाकार की होता है जिसे कथक के द्वारा निभाया जाना ज्यादाआसान है क्योंकि कथक स्वयं मे विचार भाव एवं बुद्धि की जुगलबन्दी के स्वभाविकता का प्रत्यक्ष उदाहरण है जो अपने आपके पूर्णतः प्रकट कर समझा पाने की सार्थकता रखता है।

जहाँ भगवान शिव 'देवों के देव महादेव' नृत्य कला मे नटराजरूप में पूजनीय है, वे संपूर्ण ब्रह्मांड की चेतना और ऊर्जा के केंद्र हैं। वह नटराज स्वरूप में, प्रकृति में विराजमान है प्रकृति का तांडव ही शिव तांडव नृत्य है, ऐसा माना गया है वे ब्रह्मांडीय नर्तक के रूप में सृजन, पालन और विनाश का नृत्य करते हैं, जिसे तांडव कहा जाता है। वही इस धरातल पर पाँव में घुंघरू बाँध नृत्य माध्यम से जन मानस को संदेश दिया 16 कलाएं (षोडशी) भारतीय दर्शन में सर्वोच्च दिव्य गुणों, आध्यात्मिक शक्तियों और निपुणता का प्रतीक हैं, जो भगवान कृष्ण को 'पूर्ण पुरुष' की संज्ञा देती हैं। ये ज्ञान, शक्ति, बल, धैर्य, और करुणा जैसे गुणों का मिश्रण हैं। जिसमें 16वीं कला, नृत्य, वाद्य है। इसीलिये भगवान श्री कृष्ण को 16 कलाएं से परिपूर्ण अवतार माना गया है।

नृत्यकार स्वयं को परिश्रमरूपी आग में तपाकर कला रूपी सोना को नृत्यजगत का चमकता सितारा या कहें कुंदन जैसा बनाता है जो कथक मे रसानुभूति कराते हुए सौन्दर्य बोध को उजागर करता है। क्यों न हम एक जुट हो देश-काल की सीमा से परे जाकर, वातावरण को एकमय, शक्ति-स्वरुप और नृत्यमय करें, जिससे विश्व को सुर-लय-ताल के वातावरण से परिपूर्ण कर सकें। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह विश्व में फैले आतंकवाद, आक्रोश कथक की रसानुक्रामिका से दूर हो सकेंगे और इसकी संवेदनाशीलता, हृदय परिवर्तन हेतु सार्थक हो सकेगी।

*****

बनारस की ठुमरी: राग, रस और आत्मा की अनंत यात्रा

पद्मश्री डॉ. सोमा घोष
हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत गायिका

जब भी भारतीय शास्त्रीय संगीत की आत्मा की बात होती है, तो उसमें बनारस की ठुमरी का नाम अत्यंत आदर और प्रेम के साथ लिया जाता है। ठुमरी केवल एक गायन शैली नहीं, अपितु भाव, भक्ति, श्रृंगार और आत्मा की गहराइयों का वह संगम है, जो सीधे हृदय को स्पर्श करता है। मैं, बनारस घराने की एक साधिका होने के नाते, यह अनुभव करती हूँ कि ठुमरी गाना मात्र संगीत प्रस्तुत करना नहीं, बल्कि अपनी आत्मा को स्वर में ढालकर श्रोताओं तक पहुँचना है।

ठुमरी भारतीय संगीत की एक महत्वपूर्ण गायन शैली है। यह शब्द 'ठुमक' से बना है, जिसका अर्थ है लयबद्ध, नृत्यपूर्ण चाल, जिससे घुंघरुओं की मधुर झंकार उत्पन्न होती है। इस प्रकार ठुमरी का संबंध नृत्य, अभिनय, भाव-भंगिमा, कोमल श्रृंगार और भावपूर्ण प्रेम-काव्य तथा लोकगीतों विशेषतः उत्तर प्रदेश के अवध क्षेत्र से गहराई से जुड़ा हुआ है। ठुमरी के गीतों की विषय-वस्तु रोमांटिक से लेकर भक्तिपूर्ण तक होती है, और अक्सर इनमें दोनों भावों का सुंदर समन्वय देखने को मिलता है। इसके बोल प्रायःअवधी, भोजपुरी या ब्रज भाषा में रचे जाते हैं। ठुमरी की विशेषता उसकी कोमलता और मधुरता के साथ-साथ उसकी स्वर-लालित्यपूर्ण स्वतंत्रता है, जिसमें गायक राग की कठोर सीमाओं से थोड़ा हटकर भाव (रस) कीअभिव्यक्ति को अधिक प्रभावशाली बना सकता है।

इतिहास

ठुमरी, हिंदुस्तानी संगीत की गंभीर और संयमित ध्रुपद तथा संरचित खयाल शैलियों से भिन्न एक स्वतंत्र और भाव प्रधान शैली है। यद्यपि इसका विशेष विकास 19वीं शताब्दी में वाजिद अलीशाह के दरबार में हुआ, फिर भी इसकी जड़ें प्राचीन परंपरा से जुड़ी हुई हैं। इतिहास जारी रखते हुए – ठुमरी की उत्पत्ति का पता जयदेव, रामानुज और रामानंद के समय तक लगाया जा सकता है। यह अपने चरम लोक प्रियता के शिखर पर (लगभग 16वीं सदी ई.) श्री चैतन्य के काल में पहुँची, जिनका नगर कीर्तन हरे कृष्ण हरे राम जनता को भावनात्मक आनंद में डुबो देता था। ठुमरी का विकास वैष्णव संप्रदाय से प्रेरित था, विशेष कर कृष्ण के प्रति भक्ति, जो दिव्य प्रेम को व्यक्त करती थी। बाद में, वैष्णव धर्म और सूफी वाद के दर्शन ने ठुमरी और कथक दोनों के स्वरूप को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

बनारस की ठुमरी की विशेषता

बनारस की ठुमरी का मूल तत्व है — भाव और अभिव्यक्ति। यहाँ शब्दों की मिठास, सुरों की कोमलता और भावों की गहराई मिलकर एक ऐसा जादू रचती है, जो श्रोता को एक अलग ही लोक में ले जाता है। यह शैली मुख्यतः पूरब अंग की ठुमरी के

रूप में जानी जाती है, जिसमें काव्य और संगीत का अद्भुत संतुलन होता है। ठुमरी में रागों की कठोरता नहीं होती, अपितु उसमें स्वतंत्रता होती है- भावों के अनुसार रागों का विस्तार और परिवर्तन। यही कारण है कि ठुमरी सुनते समय श्रोता केवल संगीत नहीं सुनता, बल्कि वह एक कहानी, एक अनुभव, एक अनुभूति को जीता है।

गुरुओं की परंपरा और मेरी साधना

मुझे गर्व है कि मुझे मेरी गुरू, महान ठुमरी गायिका बागेश्वरी देवी जी का सान्निध्य प्राप्त हुआ। उनकी गायकी में जो गहराई, जो दर्द और जो माधुर्य था, वह शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। उन्होंने मुझे सिखाया कि ठुमरी गाने के लिए केवल सुरों का ज्ञान पर्याप्त नहीं, अपितु जीवन के हर भाव को महसूस करना आवश्यक है।

उनके साथ बिताया हर क्षण मेरे लिए एक तपस्या था। उन्होंने मुझे यह समझाया कि जब तक आप शब्दों के अर्थ को आत्म सात नहीं करेंगे, तब तक आपकी ठुमरी में वह असर नहीं आएगा, जो श्रोताओं के दिल को छू सके।

संरचना

ख्याल की तरह, ठुमरी के भी दो भाग होते हैं– स्थायी और अंतरा। इसमें दीपचंदी, रूपक, जत, अद्धा और पंजाबी जैसे तालों का विशेष रूप से प्रयोग किया जाता है। इन तालों में एक विशेष प्रकार की लयात्मक मृदुलता होती है, जो ख्याल में प्रयुक्त तालों में लगभग अनुपस्थित रहती है। ठुमरी की रचनाएँ प्रायः काफी, खमाज, जोगिया, भैरवी, पीलू और पहाड़ी जैसे रागों में आधारित होती हैं।

ठुमरी के प्रमुख प्रकार

बोल-बनाव की ठुमरी इसे "अर्थ-भाव" की ठुमरी भी कहते हैं, जो बनारस और गया में विकसित हुई। इसमें शब्दों के गहरे अर्थ को हाव-भाव के साथ गाया जाता है। 'बोल बनाव' शैली में ठुमरी सामान्यतः धीमी गति (विलंबितलय) में गाई जाती है और अंत में 'लग्गी' के साथ समाप्त होती है। 'लग्गी' एक तीव्र गति का भाग होता है, जिसमें तबलावादक को तात्कालिक रचनात्मकता (आशुरचना) की कुछ स्वतंत्रता मिलती है।

बंदिश की ठुमरी (पश्चिमी लखनऊ/अंग) यह19वीं सदी में लखनऊ के वाजिद अलीशाह के दरबार में विकसित हुई, जिसमें शब्दों अर्थात बंदिश की प्रधानता होती है।

पंजाब अंग की ठुमरी: इस शैली में पंजाबी लोक संगीत का प्रभाव होता है और इसमें कण, खटका, और मुर्की का प्रयोग अधिक होता है। दादरा: यह ठुमरी के बहुत करीब है लेकिन इसमें लय तेज़ होती है और यह हल्के-फुल्के भावों को दर्शाती है।

अन्य रूप: कजरी, चैती, और टप्पा-ठुमरी भी इसके उप-प्रकार माने जाते हैं।

ठुमरी में लय का भी विशेष महत्व होता है। इसमें मुक्तता होती है, जिससे कलाकार अपने भावों को खुलकर व्यक्त कर सकता है। यही कारण है कि हर कलाकार की ठुमरी अलग होती है — उसमें उसकी अपनी आत्मा झलकती है।

ठुमरी – केवल संगीत नहीं, एकअनुभूति

ठुमरी में प्रेम, विरह, मिलन, भक्ति सभी भावों का समावेश होता है। विशेष रूप से राधा-कृष्ण के प्रेम की अभिव्यक्ति इसमें प्रमुख होती है। जब एक कलाकार "कौन गली गयो श्याम" या "बाबुल मोरा" जैसी ठुमरी गाता है, तो वह केवल गीत नहीं गा रहा होता, अपितु एक सम्पूर्ण भाव संसार को जीवंत कर रहा होता है। बनारस की ठुमरी गायिकी में गायिका को नायिका बनना पड़ता है। उनको राधा बनना पड़ता है क्योंकि जितनी भी ठुमरी की बंदिशें है वह राघा कृष्णा के प्रेम के हर भाव को दर्शाता हैं कभी राधा की पिया से मिलने की बेचैनी तो कभी राधा का पिया के लिए इंतजार, कभी पिया मिलन का आनंद तो कभी रूठे हुए पिया को मनाने की विनती, कभी प्रिय के सामने लजाने का भाव दर्शाता है।

बनारस की सुबह बहुदा प्रसिद्ध है। प्राचीन काल में भोर चार बजे गंगाघाट पर पंडित मंत्र पढ़ते थे और उसके बाद काशी की ठुमरी गायिका ये ठुमरी की टीपल गाती थी उस समय लाउडस्पीकर नहीं था लेकिन उनकी आवाज इतनी जोरदार थी कि इसपार से उसपार तक सुनाई देता था। बाबा बिस्मिल्लाहखां को ठुमरी गायिकी बहुत पसंद था।

वो बचपन में स्कूल से दालमंडी चले जाते थे, और नीचे खड़े होकर रसूलन बाई और सिद्धेश्वरी देवी का गाना सुना करते थे और घर आकर उसी गाने को हूबहू शहनाई पर उतारते थे इसलिए उनके वादन में पक्का बनारसी ठुमरी अंग दिखता है। उस ज़माने में ठुमरी को एक उत्सव के रूप में मनाया जाता था। बजरे पर ठुमरी गायिकाओं के साथ खासाहेब अपने मामूजन के साथ जाते थे जहां उनके मामू शहनाई बजाते थे। एक ठुमरी के एक ही बंदिश को सभी गायिकाएं बारी बारी से गाती थी और जो अच्छा गाती थी उन्हें एक रुपया चांदी का सिक्का दिया जाता था। खांसाहब हमेशा कहा करते थे कि बनारस का अर्थ है बना हुआ रस और यह रस आता है ठुमरी से।

यह मेरा परम सौभाग्य है की मैं जब एक स्टेज में गा रही थी और बाबा भारत रत्न उस्ताद बिस्मिल्लाह खान साहब मुझे सिर्फ 7 मिनट सुने थे और उन्होंने कहा था" यह कौन गा रही है इसकी आवाज में तो बनारस की पुरानी रसूलनबाई बोलर ही है।"

बनारस की ठुमरी और आज का समय

आज के आधुनिक युग में, जहाँ संगीत के अनेक रूप सामने आ रहे हैं, वहाँ बनारस की ठुमरी की प्रासंगिकता और भी बढ़ जाती है। यह हमें हमारी जड़ों से जोड़ती है, हमारी संस्कृति और परंपरा का एहसास कराती है।

हालाँकि, यह भी सच है कि आज की पीढ़ी को इस शैली से जोड़ना एक चुनौती है। इसके लिए आवश्यक है कि हम ठुमरी को केवल परंपरा के रूप में नहीं, अपितु एक जीवंत कला के रूप में प्रस्तुत करें।

आधुनिक प्रस्तुति में ठुमरी की विशेषताएँ इस प्रकार हैं:

1. काव्य (बोल) की अभिव्यक्ति पर विशेष जोर

2. गीतों के विषय मुख्यतः श्रृंगार रस (प्रेम) से जुड़े होतेहैं, जिनमें आध्यात्मिक और सांसारिक अर्थों का सुंदर मिश्रण होता है।

3. सीमित रागों के अंतर्गत रहते हुए भी विस्तृत आलाप और सुरों का विस्तार।

4. शुद्ध राग की कठोरता की अपेक्षा भाव अभिव्यक्ति को अधिक महत्व, जिससे गायक को राग के नियमों में लचीलापन अपनाने की स्वतंत्रता मिलती है।

5. गायन में स्वर और अभिव्यक्ति की विशिष्टता।

6. कथक नृत्य शैली के साथ गहरा संबंध।

7. विशेष प्रकार के तालों का प्रयोग, जो भावपूर्ण प्रस्तुति के लिए लचीला आधार प्रदान करते हैं

8. अलंकारों का प्रयोग "शब्द-चित्रण" के रूप में, अर्थात्सुरों के माध्यम से शब्दों के अर्थ और भाव को और अधिक प्रभावी बनाना

मेरा प्रयास और संकल्प

मैंने अपने जीवन का एक बड़ा अंश इस कलाको समर्पित किया है। मेरा प्रयास हमेशा यही रहा है कि मैं अपने गुरुओं की परंपरा को आगे बढ़ाऊँ और ठुमरी को नई पीढ़ी तक पहुँचाऊँ।

मैं मानती हूँ कि संगीत केवल मनोरंजन का साधन नहीं, अपितु आत्मा की शुद्धि का माध्यम है। जब हम ठुमरी गाते हैं, तो हम केवल स्वर नहीं निकालते, अपितु अपनी आत्मा को अभिव्यक्त करते हैं।

महान ठुमरी गायकों की अमिट छाप

बनारस की ठुमरी की समृद्ध परंपरा में अनेक महान कलाकारों ने अपना अमूल्य योगदान दिया है। बनारस घराने की 'पुरब अंग' ठुमरी के प्रसिद्ध कलाकारों में :-

गौहर जान (1873–1930), बेगम अख़्तर (1914–1974), शोभा गुर्टू (1925–2004), नूर जहां (1926–2000) तथा निर्मला देवी (1927–1996) के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

रसूलन बाई (1902–1974), सिद्धेश्वरी देवी (1908–1977), गिरिजा देवी (1929–2017), महादेव प्रसाद मिश्रा (1906–1995), छन्नू लाल मिश्रा (1936-2025) तथा पूर्णिमा चौधरी (1945–2013) शामिल हैं।

इसके अतिरिक्त, श्रीमती बागेश्वरी देवी (1940 से 2000) उनकी शिष्या डॉ. सोमा घोष (मैं) भी इस परंपरा की महत्वपूर्ण कलाकार हैं।

सिद्धेश्वरी देवी जी की गायकी में जो दर्द और करुणा थी, वह अद्वितीय थी। उन्हें 'ठुमरी की रानी' कहा जाता था।

इसी प्रकार बेगम अख्तर जी ने ठुमरी और ग़ज़ल दोनों में अपनी एक अलग पहचान बनाई। उनकी आवाज़ में एक ऐसा जादू था, जो सीधे आत्मा तक पहुँचता था। रसूलन बाई जी की ठुमरी में बनारस की मिट्टी की सोंधी खुशबू थी। उनकी गायकी में लोक और शास्त्रीयता का अद्भुत संगम था।

इसके अलावा गिरिजा देवी जी, जिन्हें 'ठुमरी की रानी' कहा जाता है, ने इस परंपरा को वैश्विक स्तर पर पहचान दिलाई। उनकी ठुमरी में भावों की जोग हराई थी, वह हर श्रोता को मंत्रमुग्ध कर देती थी।

निष्कर्ष

बनारस की ठुमरी एक अनमोल धरोहर है, जिसे संजोकर रखना हम सभी का कर्तव्य है। यह केवल संगीत नहीं, अपितु हमारी संस्कृति, हमारी पहचान और हमारी आत्मा का प्रतिबिंब है। अंत में, मैं यही कहना चाहूँगी कि ठुमरी को केवल सुनिए मत — उसे महसूस कीजिए, उसे जिंए। क्योंकि जब आप ठुमरी को महसूस करते हैं, तब आप वास्तव में संगीत के उस स्तर तक पहुँचते हैं, जहाँ शब्द समाप्त हो जाते हैं और केवल भाव शेष रह जाते हैं।

*****

प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तनः चार आर्य सत्यों का महत्त्व

डॉ. ठिनलस म्युरमेद, अनुवादक,
केन्द्रीय बौद्ध विद्या संस्थान
(सम विश्विद्यालय), लेह

तथागत बुद्ध ने लोक कल्याण के लिए बारह प्रकार की लीलाओं का प्रदर्शन किया। उन में दार्शनिक दृष्टि से धर्मचक्र प्रवर्तन की लीला का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने प्राणियों को दुःख से मुक्त कराने के लिए बुद्धत्व की प्राप्ति की। दुःखों की मूल कारण को समाप्त करने में उनकी अन्य ग्यारह लीलाएँ उतनी सहायक नहीं हो सकती जितना कि धर्मचक्रप्रवर्तन। अतः उनकी बारह लीलाओं में धर्मचक्रप्रवर्तन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहाँ पर प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन के अन्तर्गत चार आर्यसत्य के विषय में इस संक्षिप्त लेख को प्रस्तुत कर रहा हूँ।

चार आर्य सत्य भगवान बुद्ध के प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन का विषय है। इनमें उनकी सभी शिक्षाओं का सारांश निहित है। उन्होंने बुद्धत्व प्राप्त करने के पश्चात् सर्वप्रथम ऋषिपतन मृगदाव सारनाथ में पाँच भिक्षुओं को धर्मचक्रप्रवर्तन किया। दुःख आर्य सत्य, समुदय आर्य सत्य, निरोध आर्य सत्य तथा मार्ग आर्यसत्य, ये चार आर्य सत्य हैं। तिब्बत के महान दार्शनिक पन् छेन् सोद नमस् टगपा द्वारा विरचित "फरछिन स्प्यी तोन" नामक ग्रन्थ के आधार पर उपरोक्त चार आर्य सत्यों की व्याख्या संक्षेप में पाँच शीर्षकों के अंतर्गत करते हैं, यथा- 1. चार आर्य सत्यों की संख्या, 2. चार आर्य सत्यों का क्रम, 3. चार आर्य सत्यों का स्वभाव, 4. चार आर्य सत्यों का शब्दार्थ तथा 5. चार आर्य सत्यों के सोलह आकार।

1) **चार आर्य सत्यों की संख्या :** चार आर्य सत्यों की संख्या आर्य सत्यों की संख्या चार ही नियत है। सामान्यतया तथागत बुद्ध ने भव में प्रवृत्ति और निवृत्ति क्रम के अनुसार चार आर्य सत्यों का उपदेश दिया। अतः उन्होंने जन्म मरण के जाल में फंसकर प्राणी संसार में कैसे भटकता रहता है अर्थात् दुःख सागर के भव में कैसे प्रवृत्त होता है, इस सम्बन्ध में उन्होंने प्रथम दो, दुःख सत्य और समुदय सत्य की देशना की। संसार के विविध दुःखों के समूल वियोग अवस्था अर्थात् दुःख निरोध एवं उस दुःख निरोध प्राप्ति की विधि अर्थात् मार्ग सत्य से सम्बन्धित निरोध सत्य और मार्ग सत्य, **ये अन्ति** दो सत्यों के उपदेश दिये। संक्षेप में भगवान तथागत ने भव में प्रवृत्त हेतुफल के आधार पर प्रथम दो सत्य और भव से निवृत्त हेतुफल के आधार पर अन्तिम दो सत्यों के उपदेश दिये।

2) **चार आर्य सत्यों का क्रम:** चार आर्य सत्यों का क्रम सामान्यतया शास्त्रों में चार आर्यसत्यों के दो प्रकार का क्रम कहा गया है। अभिसमय उत्पन्न क्रम तथा हेतुफलक्रम। प्रथम क्रम के अनुसार पहले दुःख आर्यसत्य, दूसरा समुदय आर्यसत्य, तीसरा निरोध आर्यसत्य और चौथा मार्ग आर्य सत्य है। द्वितीय, हेतुफलक्रम के अनुसार समुदय आर्यसत्य, दुःख आर्यसत्य, मार्ग आर्यसत्य तथा निरोध आर्यसत्य। भगवान बुद्ध ने प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन के समय अभिससय के क्रम के अनुसार चार आर्यसत्यों को प्रदर्शित किया है।

सब से पहले भव के सामान्य एवं विशेष दुःख सत्य के दोषों को अच्छी तरह जानना और समझना चाहिए। तत्पश्चात् यह दुःख कहाँ से आता है, और कहाँ से उत्पन्न होता है? ऐसा विचारकर दुःखों के स्रोत और हेतु समुदय को जानते हुए उसे प्रहाण करने की इच्छा उत्पन्न कर समुदय को त्यागना अर्थात् संसार के विभिन्न प्रकार के दुःख को जानना आवश्यक है। उस के पश्चात् दुःख के स्रोत के कारण को पहचान कर उसे प्रहाण करने की भावना करनी चाहिए। फिर दुःखों के वियोग से जो शान्त अवस्था है अर्थात जो दुःख निरोध है उस को प्राप्त करने की इच्छा करना चाहिए। उस दुःख निरोध प्राप्ति के हेतु मार्ग का भावना करना चाहिए।

यह प्रायः सामान्य जन भी प्रत्यक्ष में देखता है कि जब कोई मनुष्य रोग से ग्रस्त होता है, तो वह डॉक्टर के पास जाता है। सबसे पहले डॉक्टर उस रोग को जानने का प्रयास करता है, उसके बाद उसरोग के कारण का पता लगाता है और उसे समूल वियोग कर रोगी को निरोग देखना चाहता है। इसके लिए वह रोगी को दवाई देता है। रोगी दवाई का सेवन करता है। इस प्रकार सर्व प्रथम रोग को जानता है, फिर उसके कारण को जानते हुए उसका उन्मूलन करता है, रोग से वियोग से स्वास्थ्य की इच्छा करते हुए दवाई का सेवन कराता है। ठीक उसी प्रकार भव के दुःख को रोग के सदृश समझना चाहिए, समुदय को रोग के कारण के रूप में जानकर उसे त्यागना चाहिए। निरोधसत्य को रोग से मुक्त, शान्त अवस्था के रूप में जानते हुए उसकी अभिलाषा करनी चाहिए और उसकी प्राप्ति के लिए मार्गसत्य को दवाई के समान सेवन करना चाहिए। जैसा कि उल्लेख किया गया है कि:-

रोग ज्ञेय, (और) रोग हेतु प्रहातव्य और सुख (रोगरहित) होना प्राप्य एवं औषध सेवन के समान दुःख, हेतु, उस का प्रहाण एवं मार्ग है। इस तरह ज्ञेय, प्रहातव्य, प्राप्य एवं भावनीय को जानना चाहिए।

3) **चार आर्य सत्यों का स्वभाव:** चार आर्यसत्यों का स्वभाव चार आर्यसत्यों के स्वभाव की व्याख्या तिब्बत के चार प्रमुख सम्प्रदायों में से गेलुग सम्प्रदाय से सम्बन्धित महान दार्शनिक पन् छेन् सोद् नमस् टगपा द्वारा विरचित 'फर छिन स्प्यी स्तोन' ग्रन्थ के आधार पर करते है :

क) दुःख आर्य सत्य का स्वभाव सास्त्रव फलावस्था के अधीन आने वाले क्लेश पक्ष दुःख आर्यसत्य का स्वभाव है, अर्थात् कर्म और क्लेश से उत्पन्न होने वाला दुःख दुःख आर्यसत्य कहलाता है। यह तीन प्रकार के हैं, यथा दुःख दुःखता, जैसे सभी प्रकार के सास्त्रव दुःख वेदना। विपरिणाम दुःखता, जैसे सभी प्रकार के सास्त्रव सुख वेदना तथा संस्कार-दुःखता, जैसे सास्त्रव उपादान स्कन्ध।

ख) समुदय आर्य सत्य का स्वभाव सास्त्रव हेतु अवस्था के अन्तर्गत आने वाले भव से संगृहीत संक्लेश पक्ष समुदय आर्य सत्य कहलाता है। सामान्यतया इसके दो भेद हैं, कर्मसंक्लेश तथा क्लेशसंक्लेश। प्रथम के भी तीन भेद हैं, यथा भव से संगृहीत पुण्य कर्म, भव से संगृहीत अपुण्यकर्म और भवर्से संगृहीत अचलकर्म। दूसरा, क्लेशसंक्लेश छः मूल क्लेश तथा बीस उपक्लेश हैं।

ग) निरोध सत्य का स्वभाव मार्गसत्य द्वारा अपने-अपने प्रहातव्य क्लेश और उसके बीजों से विमुक्ति को निरोधसत्य कहा जाता है। स्वभाव के आधार पर इसके तीन भेद हैं, यथा श्रावक निरोधसत्य, प्रत्येकबुद्ध निरोधसत्य और महायान निरोधसत्य।

रोग ज्ञेय, (और) रोग हेतु प्रहातव्य और सुख (रोगरहित) होना प्राप्य एवं औषध सेवन के समान दुःख, हेतु, उस का प्रहाण एवं मार्ग है। इस तरह ज्ञेय, प्रहातव्य, प्राप्य एवं भावनीय को जानना चाहिए।

घ) मार्ग आर्यसत्य का स्वभाव अपने प्राप्तव्य निरोधसत्य का वियोग के कारण आर्यज्ञान को मार्ग-सत्य कहा जाता है। इसके तीन भेद हैं- श्रावक मार्ग-सत्य, प्रत्येकबुद्ध मार्ग-सत्य और महायान मार्ग-सत्य।

4) **चार आर्य सत्यों का शब्दार्थ:** दुःख आदि चार को सत्य इस लिए कहा गया है, क्योंकि सामान्यतया प्रवचनों में ऐसा वर्णन है कि दुःख एवं समुदय प्रहातव्य है और निरोध एवं मार्ग उपादेय, यही वचन सत्य होने के कारण सत्य कहलाता है। विशेषरूप से आर्यजन चार सत्यों की वास्तविक स्थिति को साक्षात् में यथावत् जानते हैं, परन्तु बालपृथकजन इस प्रकार नहीं जानते हैं, इसलिए ये आर्यसत्य कहलाते हैं।

5) **सोलह आकार :** चार आर्य सत्यों से सम्बन्धित सोलह प्रकार के मिथ्या प्रतिपन्नों को दूर करने के लिए इनके सोलह आकार हैं। उपादान स्कन्ध के प्रति शुभ, सुख, नित्य और आत्मा ये चार दुःखसत्य के चार मिथ्या प्रतिपन्न हैं, जिनके प्रतिपक्ष के रूप में अनित्य, दुःख, शून्य तथा अनात्मा, ये चार प्रकार के आकार हैं। जैसे कि कहा गया है- सास्त्रव उपादान स्कन्ध अनित्य है,

क्योंकि यह कभी-कभी उत्पन्न होता है। सास्रव उपादान स्कन्ध शून्य है, क्योंकि उन पर अधिकार करनेवाला आत्मद्रव्य नहीं है। सास्रव उपादान स्कन्ध दुःख है, क्योंकि ये क्लेश और कर्म के अधीन है। उक्त स्कन्ध अनात्म है, क्योंकि ये स्कन्ध स्वयं स्वतन्त्र आत्मा के स्वरूप में सिद्ध नहीं होता है।

समुदयसत्य का आकार : समुदय आर्यसत्य के चार आकार इस प्रकार हैं- हेतु आकार, समुदयाकार, प्रभवाकार तथा प्रत्ययाकार। ये समुदय के चार विपर्यासों के दुःख को अहेतुक ग्रहण करना, उसे एक हेतुक ग्रहण करना, ईश्वर आदि द्वारा निर्मित का ग्रहण करना और स्वभाव की नित्यता के साथ केवल आकार में परिवर्तन का ग्रहण इन चार के निवर्तन के लिए देशना किया गया है। सास्त्रव कर्म एवं तृष्णा हेतु आकार है, क्योंकि यह दुःख का मूल है। ये दोनों समुदय आकार हैं, क्योंकि ये अपने फलदुःख के पुनः पुनः उत्पादक हैं। ये दोनों प्रभवाकार हैं, क्योंकि ये घोर दुःखों के उत्पादक हैं। ये दोनों प्रत्ययाकार हैं, क्योंकि ये अपने फल दुःख का सहकारी प्रत्यय हैं।

निरोध आर्यसत्य का आकार मोक्ष के बिल्कुल नहीं होने का ग्रहण, सास्त्रव के कुछ अवस्था विशेष में मोक्ष-ग्रहण, क्लेश अवस्था विशेष में मोक्ष-ग्रहण और क्लेश का एक बार प्रहाण करने पर भी पुनः उत्पन्न होने का ग्रहण, इन चार आरोपों के प्रतिपक्ष के रूप में यह निरोधाकार, शान्ताकार, प्रणीताकार और निःसरणाकार है। कर्म और क्लेश का सर्वथा प्रहाण कर जो इन से वियोग होता है, वह निरोधाकार है, क्योंकि यह दुःखों से सर्वथा वियोग है। अशेष कर्म और क्लेशों का प्रहाण शान्ताकार है, क्योंकि यह क्लेशों के शमन तथा वियोग की अवस्था है। अशेष कर्म और क्लेशों का प्रहाण प्रणीताकार है, क्योंकि यह सदा लाभकारी एवं सुखस्वरूप है। अशेष कर्म और क्लेशों का प्रहाण निःसरणाकार है, क्योंकि यह दुःख के निश्चित रूप से पुनः उत्पन्न नहीं होने का वियोग है।

मार्ग आर्य सत्य का आकार: उपरोक्त सत्यों की तरह मार्ग आर्यसत्य के चार आकार हैं, जैसे- मार्गाकार, न्याय-आकार, प्रतिपत्ति-आकार और निर्याणाकार है, जो क्रमशः मोक्ष-मार्ग के बिलकुल नहीं होने का ग्रहण, अनात्म ज्ञान रूपी प्रज्ञा के मोक्ष-मार्ग ही न होने का ग्रहण, ध्यान के कुछ अवस्थाविशेष को मोक्ष के रूप में ग्रहण करना तथा दुःख का पूरी तरह से प्रहाण नहीं कर सकने का ग्रहण, इन चार आरोपों के प्रतिपक्ष के रूप में देशना की गई है। अनात्मा को साक्षात् जानने वाला बोधिसत्त्व दर्शन-मार्ग मार्ग है, क्योंकि यह मोक्षगामी मार्ग है। यह दर्शनमार्ग न्याय-आकार है, क्योंकि यह क्लेशों के प्रतिपक्ष-मार्ग है। यह दर्शन-मार्ग प्रतिपत्ति-आकार है, क्योंकि, यह मार्ग की वस्तुस्थिति का साक्षात् में अधिगम होते हुए अविपर्यास प्रतिपत्ति है। और यह दर्शन-मार्ग निर्याणाकार है, क्योंकि यह दुःख और क्लेशों का मूल से क्षय करने वाला मार्ग है।

इस प्रकार इस चार आर्य सत्य के ज्ञान से इस जीवन में क्षण-सम्पद् से युक्त मनुष्य काय को अर्थपूर्ण बनाया जा सकता है। सूत्र एवं शास्त्रों में कहा गया है कि इस संसार में दुःख से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। जैसे नरक लोक में प्राणी नरक अग्नि तथा ठंड आदि असहनीय दुःख से पीड़ित रहते हैं। प्रेत लोक में भूख-प्यास के दुःख से दुःखी रहता है। तिर्यक में एक दूसरे को मारने का दुःख होता है। बलवान लोग कमजोरों को मारते है। उन्हें मनुष्यों को खाने की सामग्री सोचकर मारा जाता है। उन्हें पीटा जाता है और कष्ट पहुँचाया जाता है। मनुष्य भी विभिन्न प्रकार के दुःखों से पीड़ित होते हैं। मोटे तोर पर वे जन्म, जरा, रोग तथा मरण से दुःखी रहते हैं। असुर लोक में देवताओं को लक्ष्मी एवं ऐश्वर्य के प्रति ईर्ष्या होने से उनके साथ लड़ाई झगड़ा करते रहने का अचिन्तनीय दुःख होता है। देवताओं में कामधातु देवता भी असुरों के साथ युद्ध करते रहने से दुःखी रहता है। उसके अतिरिक्त उनकी मृत्यु के समय पाँच प्रकार के लक्षण उदित होते समय नरक के दुःख से अधिक दुःख का अनुभव करना पड़ता है। इस तरह समान्यतया भव और विशेषतः छह गतियों के अपने-अपने नाना प्रकार के दुःखों को अच्छी तरह जानने से, चिन्तन करने से और सांसारिक दुःख को सुख समझने की मिथ्या दृष्टि को त्यागने से भव के प्रति वैराग्य उत्पन्न कर सकते हैं। हम अपने दैनिक जीवन में अकुशल कर्म करने में हिचकेंगे और यह जानते हुए कि उपरोक्त दुःखों का कारण अपने द्वारा कृत अकुशल कर्मों का फल है।

*****

मंडयाली धाम: लोकव्यवहार, स्वाद और सेहत का अनूठा समावेश

रेवती सैनी,
जिला भाषा अधिकारी,
हिमाचल प्रदेश

लोकजीवन में परंपराओं, रहन-सहन, पहनावे और खान-पान का विशेष महत्त्व रहता है। किसी क्षेत्र की लोक संस्कृति की समग्र अभिव्यक्ति इसी से परिलक्षित होती है। हिमाचल प्रदेश अपनी देव संस्कृति, परंपराओं, पहाड़ी जनजीवन, लोक संस्कृति, खान-पान के कारण विशिष्ट पहचान रखता है। इस पहाड़ी प्रदेश की भौगोलिक विविधता के साथ-साथ ही यहां के लोगों के रहन-सहन, व्यंजनों, बोली और वेशभूषा में भी विविधता पाई जाती है। हिमाचल के हृदय स्थल में स्थित मंडी सांस्कृतिक एवं भौगोलिक विविधता की वजह से देश में अपनी अलग पहचान रखता है। मंडी जिला के लोग उत्सवधर्मी होते हैं जिस कारण इनका जीवन उल्लास से भरा रहता है, जो मेलों, धार्मिक उत्सवों व त्योहारों में और भी निखर कर सामने आता है। लोगों का यह उत्साह पारंपरिक व्यंजनों में भल्ले, बबरू, चना, लुची, भटूरे, कचौरी, सीरा, बड़ियां इत्यादि की खुशबू से महक उठता है। इसके अतरिक्त जनपद में आयोजित होने वाले सामूहिक कार्यक्रमों में परोसे जाने वाला सहभोज मंडयाली धाम के नाम से विख्यात है।

वैसे तो हिमाचल के छोटे-बड़े आयोजनों में परोसे जाने वाले भोजन को धाम कहा जाता है लेकिन मंडयाली धाम की बात ही कुछ और है। कांसे और पीतल के बड़े-बड़े बर्तनों में जिन्हें स्थानीय बोली में बटलुंहीं, चरोटी या बंटी कहा जाता है, में लकड़ी की आंच पर पकाकर विशेष प्रकार के पत्तों की पतलों पर पंगत में बैठकर खाये जाने वाले इस सामूहिक भोज में लोक व्यवहार, स्वाद और सेहत का अनूठा समावेश है।

मंडयाली धाम का इतिहास

मानवीय सभ्यता के विकास के साथ ही धार्मिक अनुष्ठानों के अतिरिक्त चारधाम की सफल यात्रा करने के बाद दिए जाने वाले सामूहिक भोज की परंपरा रही है, जिसे धाम का नाम दिया गया। रियासत काल में मंडी नगर में राजाओं की ओर से धार्मिक आयोजन किए जाते रहे हैं, इस दौरान सैंकड़ों लोगों को सामूहिक रूप से भोजन करवाया जाता था, जिसे स्थानीय बोली में धाम कहा जाने लगा। लेकिन परंपरागत मंडयाली धाम की शुरूआत चौदवीं-पंद्रहवीं शताब्दी के बीच राजा अजबर सेन के कार्यकाल के दौरान बताई जाती है। ये वही राजा अजबर सेन थे जिन्होंने 1527 ई. में ब्यास नदी के उस पार बटोहली से अपनी राजधानी बदल कर वर्तमान मंडी नगर में राजधानी स्थापित की थी। इसकी स्थापना के साथ ही बाबा भूतनाथ के मंदिर का भी निर्माण करवाया था। मंडयाली धाम का आयोजन उन दिनों भूतनाथ और त्रिलोकीनाथ मंदिर परिसर में किया जाने लगा। मंडी के ऐतिहासिक चौहट्टा बाजार में एक बार हुए शास्त्रार्थ के दौरान विद्वानों द्वारा मंडयाली धाम की परिकल्पना की गई थी, जिसे प्रसाद के रूप में ग्रहण किया जाने लगा। ऐसी ही धाम का वर्णन 16वीं-17वीं ई. के दौरान राजा सिद्ध सेन के शासनकाल में सिद्धसर के साथ लगते सिद्ध काली मंदिर का निर्माण करवाया जिसकी प्रतिष्ठा में 8001 व्यक्तियों को प्रसाद के रूप में धाम खिलाये जाने का वर्णन है। वर्तमान में भी धार्मिक अनुष्ठानों, विवाह-शादियों और देवी-देवताओं के आगमन पर मंडयाली धाम प्रसाद के रूप में परोसने की पंरपरा है। यहां तक कि अंतर्राष्ट्रीय मंडी शिवरात्रि महोत्सव के दौरान जनपद के 216 देवी-देवताओं के साथ आने वाले हजारों देवलुओं को एक सप्ताह तक शहर की विभिन्न संस्थाओं की ओर से मंडयाली धाम का आयोजन किया जाता है।

आयुर्वेदानुसार संपूर्ण आहार है मंडयाली धाम

आयुर्वेदानुसार मंडयाली धाम एक संपूर्ण आहार है। आयुर्वेदाचार्या डॉ. ओमराज शर्मा का

कहना है कि सुश्रुत संहिता के अनुसार भोजन मधुर, अम्ल,लवण,कटु ,तिक्त, कषाय रस इसी क्रम में खाना चाहिए और मंडयाली धाम में इन्हीं छह रसों का समावेश रहता है। डा० ओम बताते हैं कि मंडयाली धाम का शुभारंभ बदाणे के मीठे से होता है जो मधुर रस प्रधान व्यंजन है। सेपू बड़ी में मधुर अम्ल रस, कद्दू के खट्टे में मधुर कषय रस होता है, जो वात, पित शामक, शूल नाशक होता है। मंडयाली धाम में बनने वाली माह की दाल में भी कई तरह के गुण विद्यमान रहते हैं। इसके अतिरिक्त कोहल का खट्टा और झोल कैल्शियम और विटामिन बी-12 के समृद्ध स्रोत हैं। इसके अलावा प्राकृतिक पात्र टौर की पत्तलों पर हाथों से भोजन करने से इसका स्वाद और गुणवत्ता बढ़ जाती है।

मंडयाली धाम की विशिष्टता

यूं तो हिमाचल प्रदेश में अलग-अलग क्षेत्रों में विवाह -शादियों और सामूहिक भोज के रूप में धाम परोसी जाती है, जैसे कांगड़ी धाम, बिलासपुरी, चंबयाली। हर धाम का अलग ही जायका है किंतु मंडयाली धाम की अपनी विशिष्टता है। मंडयाली धाम में परोसे जाने वाले हर व्यंजन का आयुर्वेदिक महत्त्व है...जिसके चलते भोजन में छह रसों का समावेश रहता है, जो खाने में स्वादिष्ट होने के साथ-साथ सेहत की लिहाज से भी पौष्टिक होते हैं। मंडयाली धाम को बनाने का खास तरीका होता है और इसे बनाने वाले रसोईये भी खानदानी होते हैं, जिनका पारंपरिक पेशा ही धाम बनाना और परोसना होता है। मंडयाली धाम को परोसने का भी विशेष तरीका होता है, जिसमें छोटा-बड़ा, अमीर-गरीब सब एक साथ जमीन पर पंगत में बैठकर भोजन ग्रहण करते हैं और परोसने वाला भी बिना किसी भेदभाव के बराबर मात्रा में भोजन परोसता है, इसमें समानता का भाव रहता है।

ऐसे परोसी जाती है मंडयाली धाम

पारंपरिक मंडयाली धाम में सेपु बड़ी, बदाना, कद्दू का खट्टा, राजमा, कोहल,उड़द की दाल और झोल आदि सात व्यंजन परोसे जाते हैं। इनके परोसने का क्रम भी पारंपरिक है जिसे आयुर्वेद की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। मंडयाली धाम में सबसे पहले मीठा परोसा जाता है दूसरे स्थान पर सेपु बड़ी आती है। यह क्रम बदल भी जाता है कहीं सबसे पहले मीठे की जगह सेपु बड़ी, घंडयाली या धोतुआं दाल परोसी जाती है और इसके बाद मीठे का नंबर आता है। इसी प्रकार क्रम आगे बढ़ता है जिसमें कद्दू का खट्टा, राजमा, मटर पनीर, रौंग गोभी, कोहल या छोलिया, उड़द की दाल और झोल परोसा जाता है। मंडयाली धाम की विशेषता है कि इसमें दाल और झोल का होना अनिवार्य है और उड़द जिसे स्थानीय बोली में माह की दाल कहते हैं के साथ गर्म-गर्म झोल परोसा जाता है। यह हाजमें के लिए ठीक होता है। अंत में गर्म झोल देने के पीछे उद्देश्य यह रहता है कि इससे पूर्व परोसे गए भोजन की चिकनाहट को खत्म कर भोजन को सुपाच्य बनाया जा सके। मंडयाली धाम में उड़द की दाल का प्रमुख स्थान है, जिसके बिना मंडयाली धाम पूरी नहीं हो सकती। सेपु बड़ी में उड़द की दाल और मूंग की दली का मिश्रण रहता है, बदाणा मूंग की दली को पीस कर बनता है किंतु उसमें भी कुछ मात्रा में उड़द की दाल मिलाई जाती है जिससे उसमें पकड़ आती है। अंत में उड़द की दाल, झोल के साथ परोसी जाती है।

राजा की रसोई में भी पकती थी मंडयाली धाम

मंडयाली धाम अत्यधिक स्वादिष्ट होती है और यह स्वाद राजाओं की रसोई से चला आ रहा है। राजाओं के महल में राज रसोइये जिन्हें स्थानीय बोली में बोटी और उनके साथ काम करने वाले सहयोगियों को बांठ कहा जाता था। राजा की रसोई में काम करने वाले बोटी अपने क्षेत्र की धाम में विशिष्टता लाने के लिए अलग-अलग पाक शैली और मसालों का उपयोग करते थे। जैसे सेपु बड़ी मंडी रियासत की पहचान बनी तो धोतुआं दाल सुकेत और बिलासपुर की पहचान बनी। पहले तो धाम देशी घी में पकाई जाती थी किंतु वर्तमान समय में दूसरी तरह के घी और तेलों से पकाई जाती है। इसे पकाने के उपरान्त सभी व्यंजनों में कुछ मात्रा में देशी घी, खोया आदि आवश्यक रूप से डाला जाता है, यह स्वास्थ्य वर्धक होती है। धाम के सभी व्यंजन हिलाते हुए धीमी आंच पर धीरे –धीरे पकाए जाते हैं। मंडयाली धाम एक तरह से सात्विक होती है इसमें लहसुन और प्याज का प्रयोग नहीं होता है। इसमें पड़ने वाले मसालों में भी जीरा, धनिया, लाल मिर्च, मीठी सौंफ, लौंग, काली मिर्च, जपत्री, बड़ी इलायची, छोटी इलायची, दालचीनी

एक तो इसका जायका बढ़ाते है साथ ही कई तरह के विकारों को भी दूर करते हैं। मीठे में डाले जाने वाले सूखे मेवे, काजू, बादाम,किशमिश, नारीयल मीठे का स्वाद बढ़ाने के साथ साथ पौष्टिक भी होते हैं।

मंडयाली धाम में उपयोग होने वाले बर्तन

मंडयाली धाम कांसे से बने भारी बर्तन में पकाई जाती है जिसे स्थानीय बोली में बटलोही कहा जाता है। खाली बटलोही का वजन 25/30 किलो होता है। चावल और लगभग सभी व्यंजन बटलोही में ही पकाए जाते हैं। केवल कद्दू का खट्टा, बदाना या कद्दू का मीठा और झोल बनाने के लिए लोहे की कड़ाही का ही उपयोग किया जाता है। मंडयाली धाम में उपयोग होने वाले सभी बर्तन स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत लाभदायक होते हैं। कांसे के बर्तन में बनाने से भोजन की गुणवता बढ़ती है। कांसा मिश्र धातु वाले बर्तन भोजन को शुद्ध करते हैं और हमारी पाचन प्रक्रिया को संतुलित रखते हैं। कांसे में सूक्ष्म जीवों को नष्ट करने की क्षमता होती है इसलिए कांसे के बर्तनो में खाना पकाने से स्वाद के साथ - साथ भोजन की पौष्टिकता बढ़ जाती है। कांसा तनाव से राहत देता है और ऊर्जा के स्तर को बढ़ाता है। कांसे के बर्तन में पकाए गए भोजन को खाने से दस्त, पेचिश, पीलिया आदि रोगों को रोकने के गुण होते हैं।

बटलोही के अतरिक्त धाम में लोहे की कड़ाही, पीतल की कडछी का उपयोग किया जाता है और भोजन परोसने के लिए पीतल के बर्तनों का उपयोग किया जाता है जिसे स्थानीय बोली में डबरु कहा जाता है। चावल पकाने के उपरांत बांस से बनी बहुत बड़ी टोकरी में सफेद सूती कपड़ा बिछाकर कपड़े से ही ढककर रखा जाता है जिससे वे पूरा दिन ठंडा नहीं होते हैं। चावल परोसने के लिए बांस से बनी छोटी टोकरी का उपयोग किया जाता है जिसे स्थानीय बोली में छड़ोलू कहते हैं। मसाला पीसने के लिए सील या लोहे से बने ईमामजस्ते का उपयोग किया जाता है जिसे कुंडी भी कहा जाता है।

शुद्धता पर विशेष ध्यान

मंडयाली धाम पकाने वाले बोटी शुद्धता का पूरा ध्यान रखते हैं। धाम पकाने से पहले आयोजक इनका सम्मान करते हुए इन्हें टीका लगाकर नई धोती और बनियान देने से करते हैं। बोटी धाम बनाने से पूर्व नहाकर नई बनियान और धोती पहनते हैं और नंगे पांव रसोई में भोजन पकाते हैं। भोजन पकाने के दौरान रसोई में बोटी और उनके साथ आए सहयोगियों के अतिरिक्त कोई भी प्रवेश नहीं कर सकता।

इस तरह बनते हैं मंडयाली धाम के व्यंजन

मंडयाली धाम विशेष कर सामूहिक आयोजनों में जहां सैंकड़ों हजारों लोग एकत्रित होते हैं वहीं बनती है, जिसे बनाने में केवल मात्र बोटी और बांठ ही नहीं बल्कि दूसरे लोगों का योगदान रहता है।

सेपु बड़ी:- सेपु बड़ी मंडयाली धाम का प्रमुख व्यंजन है इसे उड़द की दली से बनाया जाता है। आधे उड़द की दाल को 12 घंटे पहले पानी में भिगोया जाता है उसके उपरांत धोकर इसका छिलका निकाला जाता है और इसे पीसकर उसमें गरम मसाला डालकर इसे गोल आकार में उबलते पानी में पकने तक उबाला जाता है। उबालने के उपरान्त काटकर टुकड़े किए जाते हैं, उन्हें गरम तेल में तला जाता है। उसके उपरांत बटलोही में घी डालकर जीरा, धनिया, लाल मिर्च, लौंग, मीठा सौंफ, दालचीनी का तड़का लगाकर टमाटर और पालक की ग्रेवी और दही डालकर तरी बनने तक भूना जाता है और हल्दी और सेपु बड़ी डाली जाती है। कुछ देर पकाने के बाद इसमें पानी डाला जाता है और इसके उपरांत उबाल आने तक पकाया जाता है। उबाल आने के बाद इसे आधा घंटा तक धीमी आंच पर पकाया जाता है। पकने के उपरान्त नमक, देगी मिर्च, पीसे हुए गरम मसाले (छोटी इलायची, बड़ी इलायची, लौंग, जीरा, धनिया, जपत्री, दालचीनी, काली मिर्च) डाले जाते हैं और आंच से हटाकर इसमें हरा धनिया और देशी घी डाला जाता है।

बदाणे का मीठा

बदाणा, मंडयाली धाम का मुख्य मीठा व्यंजन है जिसे या तो धाम में सबसे पहले परोसा जाता है या दूसरे स्थान पर। आधे मूंग की दाल में थोड़ी सी उड़द की दाल मिलाकर उसे 12 घंटे भिगोया जाता है। भिगोने के उपरांत उसका छिलका निकाल कर उसे पीसा जाता है और पीसने के उपरांत उसे झारने से

निकालते हुए गर्म तेल की कड़ाही में डाला जाता है। इसके छोटे-छोटे टुकड़े तलाई उपरांत निकाले जाते हैं उसके उपरांत इसे लोहे की कडाही में डालकर उसमें घी, मीठा सौंफ, छोटी इलायची और चीनी मिलाकर 1 घंटे के लिए धीमी आंच पर पकाया जाता है। इसमें काजू, बादाम, किशमिश, नारियल इत्यादि सूखे मेवे डाले जाते हैं जो इसके स्वाद को दोगुना कर देते हैं और इसकी पौष्टिकता भी बढ़ाते हैं।

कद्दू का खट्टा : धाम में तीसरे स्थान पर परोसा जाने वाला व्यंजन है इसे हरे कद्दू से बनाया जाता है, हरे कद्दू का छिलका उतार कर काट कर इसके बड़े-बड़े टुकड़े किए जाते हैं फिर इसे बटलोही में कड़वे तेल में जीरा, धनिया, मीठी सौंफ, लाल मिर्च का तड़का लगाया जाता है। सबसे पहले इसने राई पाउडर और अमचूर डालकर भूना जाता है उसके उपरांत कद्दू और थोड़े से भिगोए हुए छुहारे डाले जाते हैं और पकाया जाता है। पकने पर इसमें गुड और इमली मिलाई जाती है। इमली को 2 घंटे पहले पानी में डालकर उसकी गुठलियां अलग कर दी जाती हैं। पकने के उपरांत इसे कड़ाही में निकालकर गरम मसाला और हरा धनिया डाला जाता है।

राजमा का मदरा

राजमा 12 घंटे पहले पानी में भिगोए जाते हैं उसके उपरांत बटलोही में घी डालकर जीरा, धनिया, लाल मिर्च, मीठी सौंफ, लौंग से तड़का लगाया जाता है। उसके उपरांत पालक और टमाटर की ग्रेवी बनाई जाती है और दही डाला जाता है। हल्दी डालने के उपरांत उसमें पानी डालकर पकाए जाते हैं फिर उसमें खोया मिलाया जाता है जिससे इसका स्वाद दोगुना हो जाता है। खोया मिलाने के उपरांत नमक और पीसे हुए गरम मसाले डाले जाते हैं और अंत में हरा धनिया डाला जाता है।

कोहल का खट्टा -: 12 घंटे पहले लाल रौंगी की दाल को पानी में भिगोने के उपरांत बटलोही में कड़वा तेल डालकर जीरा, धनिया, मीठी सौंफ, लौंग, लाल मिर्च का तड़का लगाया जाता है और उसके उपरांत अमचूर और राई पाउडर भूनने के बाद हल्दी डालकर दहीं और छाछ में बेसन घोलकर पकाया जाता है। पकने के उपरांत उसने नमक, गरम मसाला और हरा धनिया डाला जाता है।

उड़द की दाल

उड़द की दाल बिल्कुल साधारण रूप से बनाई जाती है बटलोही में बनी उड़द की दाल का स्वाद भी लाजवाब होता होता है। उड़द की दाल को धोकर बटलोही में डाला जाता है। पानी डालने के साथ ही उसमें कड़वा तेल तेल, जीरा, धनिया, लाल मिर्च, मीठी सौंफ, इलायची और हल्दी, नमक डालकर पकाई जाती है और पकने के उपरांत पीसा गरम मसाला और हरा धनिया आदि डाला जाता है।

झोल़

उड़द की दाल के साथ परोसे जाने वाला झोल अन्य सभी व्यंजनों को पचाने में सहायता करता है। दही और छाछ में बेसन और अजवायन घोलकर लोहे की कड़ाही में जीरा, धनियां, लाल मिर्च, मीठी सौंफ का तड़का लगाया जाता है उबाल आने के उपरान्त हल्दी, नमक डालकर धीमी आंच पर देर तक पकाया जाता है और अंत में हरा धनिया डाला जाता है। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में धोतुआं दाल, घंडयाली, मटर पनीर, रोंग गोभी छोलिया भी धाम में पकाए जाते हैं। ये व्यंजन समय के साथ जुड़ते गए, सेपु बड़ी के स्थान पर घंडयाली या धोतुआं दाल, राजमा के स्थान पर रोंग गोभी या मटर पनीर और खट्टे में कोहली के स्थान पर छोलिया बनाया जाता है।

धोतुआं दाल:

धोतुआं दाल को आधे उड़द की दाल से बनाया जाता है। आधे उड़द की दाल को 12 घंटे पहले पानी में भिगोया जाता है उसके उपरांत धोकर इसका छिलका निकाला जाता है। उसके उपरान्त बटलोही में दाल और घी बराबर मात्रा में डालकर साथ ही साबुत मसाले, हल्दी और पीसे मसाले डालकर पकाई जाती है उसके उपरान्त नमक और हरा धनिया डाला जाता है।

घंडयाली का दम:

यह अरबी से बनाया जाता है, अरबी को अच्छे से साफ करने के उपरान्त बड़े-बड़े टुकड़ों में काटकर थोड़ी देर तक सुखाया जाता है। उसके उपरान्त इसकी तलाई की जाती है और सेपू बड़ी की तरह ही बनाया जाता है यह व्यंजन सेपू बड़ी की तरह स्वाद देता है, इसलिए यह व्यंजन सेपू बड़ी के स्थान

पर बनाया जाता है, सर्दियों में अरबी की उपलब्धता रहती है, तब इसे सेपु बड़ी के विकल्प के रूप में बनाया जाता है।

रोंग गोभी का दम:

इसे रोंग की दाल और गोभी के साथ मिलाकर पकाया जाता है। सबसे पहले रोंग की दाल 12 घंटे पहले पानी में भिगोई जाती है उसके उपरांत राजमा की तरह ही तड़का लगाकर पालक, टमाटर और दही डालकर तरी बनने तक पकाया जाता है उसके उपरान्त काटी हुई गोभी डाली जाती है। थोड़ी देर पकाने के उपरांत भिगोई हुई दाल डाली जाती है और फिर हल्दी, नमक मिलाकर पानी डाला जाता है और पकने के उपरांत पीसा हुआ गरम मसाला, देगी मिर्च और हरा धनिया डाला जाता है।

मटर पनीर : मटर पनीर इसे भी घी डालकर राजमा की तरह तड़का लगाया जाता है और टमाटर की ग्रेवी भूनकर हरे मटर डाले जाते हैं मटर पकने के बाद हल्दी और पानी, खोया, पनीर डाला जाता है थोड़ी देर धीमी आंच पर पकने के उपरान्त पीसा हुआ गरम मसाला, नमक और हरा धनिया डाला जाता है।

छोलिया : छोलिया काले चने से बनाया जाता है। 12घंटे पहले चने पानी में भिगोए जाते हैं, उसके उपरांत दरदरे पीसे जाते हैं। बटलोही में कड़वा तेल डाल कर जीरा, धनिया, मीठी सौंफ, लाल मिर्च का तड़का लगाया जाता है और उसके उपरांत अमचूर और राई पाउडर भूनने के बाद हल्दी डालकर दहीं और छाछ में बेसन और अजवायन घोलकर पकाया जाता है। पकने के उपरांत नमक, गरम मसाला और हरा धनिया डाला जाता है।

सामूहिक भागीदारी

मंडयाली धाम की तैयारी में गांव व समाज के लोगों की सामूहिक भागीदारी होती है। पुरष धाम के आयोजन से कुछ दिन पूर्व मिलकर लकड़ी काटते है। निमंत्रण पत्र बांटते हैं, राशन की खरीद करते है। घर से बाहर खुले स्थान पर अस्थायी रसोईघर बनाते है उनमे बटलोंहीं के माप के बराबर खुदाई करते हैं जिसे चर या तौण कहते हैं। इसके बाद गाय के गोबर से उसकी लिपाई कर उसको शुद्ध किया जाता है। धाम में प्रयोग किये जाने वाले बर्तन/सामग्री सभी के घरो से एकत्रित किये जाते हैं। क्योंकि सारे बर्तन और सामग्री किसी एक के पास नहीं होती है। पुरुष हो या महिलाए सभी अपनी भागीदारी सुनिश्चित करते हैं। महिलाएं आयोजन के अनुसार संस्कार गीत गाते हुए चावल, दालों व मसालों की छन्टाई कर साफ़ करती है। सेपु बड़ी, धोतुआं दाल, बदाणा बनाने के लिए उड़द की दाल को धोकर छिलका निकालती है। दाल धोने के लिए अपने -अपने घरों से परात लेकर आती है और दाल धोती हैं। इस तरह मंडयाली धाम सामाजिक सदभाव, आपसी भाईचारे, सांस्कृतिक संरक्षण आपसी प्रेम, सहयोग व भाईचारे का परिचय देते हुए महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

जिला मण्डी अपने पारम्परिक व्यंजनों के लिए देश भर में प्रसिद्ध है। बड़े आयोजनों में मंडयाली धाम की विशेषता है इसे सामूहिक भोज के रूप में पकाया और परोसा जाता है इसका इतिहास पारम्परिक है। धाम की परिकल्पना राजाओं द्वारा शास्त्रार्थ के उपरान्त आयुवेद की दृष्टि से की गई है। मंडयाली धाम बनाने से लेकर खाने तक विशिष्टता लिए हुए है। मंडयाली धाम में कांसे, पीतल और लोहे के बर्तनों का उपयोग किया जाता है जिससे शरीर में कैल्शियम, आयरन और अन्य आवश्यक तत्वों की कमी पूरी होती है। इसमें पड़ने वाले सूखे मेवे और गरम मसाले अनेक प्रकार के शारीरिक विकारो को दूर करते है तथा भोजन को अत्याधिक स्वादिष्ट और पौष्टिक भी बनाते हैं। धाम की तैयारी में सामूहिक भागीदारी रहती है जिसमे समाज में मेल-जोल और सहयोग की भावना बढती है। धाम पंगत में बैठकर छोटे-बड़े, बच्चे-बूढ़े सभी एक साथ पालथी मारकर सामूहिक रूप से खाते है जिससे समानता की भावना बढती है। धाम टौर के पत्तों से बनी पतलों में खाई जाती है टोर की पतलें गुणों से भरपूर होती हैं इनमें खाने से भोजन का स्वाद दोगुना हो जाता है और यह स्वास्थ्य वर्धक होने के साथ-साथ पर्यावरण हितैषी भी होती हैं। पतलें आसानी से गल जाती है जिससे इनकी खाद बन जाती है। मंडयाली धाम स्वादिष्ट, पौष्टिक और गुणों से भरपूर होती हैं। परम्पराओं, रीति-रिवाजों, संस्कृति के संरक्षण, सामाजिक सहयोग, मेल-जोल, पर्यावरण के संरक्षण में मंडयाली धाम की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

*****

कच्छ के धार्मिक स्थल नारायण सरोवर और कोटेश्वर

विवेक मेहता
विभागाध्यक्ष (सेवानिवृत्त)
सिविल इंजीनियरिंग विभाग,
आदिपुर पॉलिटेक्निक

देश के पश्चिमी छोर पर बसे गुजरात का कच्छ जिला क्षेत्रफल के हिसाब से देश का सबसे बड़ा जिला है। यह अपने आप में विविधता को समेटे हुए हैं। यहां दूर तक फैले रण में ठंड के दिनों में सफेद नमक की परत चांदनी रात में बर्फ का आभास देती है। वर्तमान प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी जब गुजरात के मुख्यमंत्री थे तो उन्होंने अपनी दूरदृष्टि से यहां पर्यटन की संभावना को देखा। इसे 'रण उत्सव' की तरह तैयार किया जो आजकल देश विदेश में प्रख्यात है । रण का ऐसा सुंदर नजारा देश में कहीं और देखने को नहीं मिलता। हड़प्पा संस्कृति का प्राचीन नगर धोलावीरा पुराने समय की प्रगति की याद दिला देता है। कच्छ बहुत पहले से व्यापार का केन्द्र था। हड़प्पन संस्कृति के अवशेष यहां के कई स्थानों पर प्राप्त हुए। विगत वर्षों में धोलावीरा से प्राप्त अवशेषों ने मोहनजोदड़ो की खुदाई से आगे बात बढ़ाई।

कच्छ के मांडवी का समुद्री बीच आनंदित कर देता है। नवरात्रि में 'माताकामढ' और गर्मी के दिनों में 'हाजीपीर' की ओर देश-भर से भक्त लोग पैदल चलकर आते हैं। भुज का आइना महल, म्यूजियम, मांडवी का विजय पैलेस और लखपत का गुरुद्वारा लोगों को आकर्षित करते हैं। कांडला पोर्ट और मुंद्रा पोर्ट पर बड़े-बड़े जहाज माल को चढ़ाते और उतारते हैं। ऐसी विविधता भरी जगह देश में और कहीं नहीं मिल सकती। इसी कच्छ के देश के अंतिम छोर पर स्थित नारायण सरोवर और कोटेश्वर धार्मिक तौर पर अपना विशेष महत्व रखते हैं।

नारायण सरोवर, उत्तरी अक्षांश 23° 40′ और पूर्वी देशांतर 68° 33′, पश्चिमी रण के कोरी प्रवेश द्वार पर स्थित गाँव और तीर्थ स्थान है। यह बलुआ पत्थर की चट्टान के एक ऊंचे भूखंड पर स्थित है जो मुख्य भूमि से ज्वारीय दलदलों द्वारा अलग हो जाता है और उच्च जल स्तर पर ढक जाते हैं। इस स्थान की मुख्य इमारतें, एक किलेबंद दीवार से घिरी हुई हैं, जिसके बाहर ग्रामीणों के घर हैं। प्राचीन समय में यह अपनी महान झील के लिए प्रसिद्ध था। यह सिकंदर द्वारा खोजी गई झील के विवरण से मेल खाता है, और संभवतः सिंधु नदी के मार्ग परिवर्तन (लगभग 1000) तक कायम रहा, 1819 के भूकंप ने आंशिक रूप से इसे पुनः स्थापित कर दिया।

झील के किनारे, प्राचीन काल से, नारायण सरोवर में आदिनारायण का एक मंदिर है। कहते हैं कि उसे गुसाईं वंश के स्थापक श्री नारायण गिरी ने विक्रम संवत् 1355 में बनवाया था।

बाद में लंबे समय तक कानफटा संप्रदाय के पुजारियों के अधीन रहने के बाद, लगभग 1550 (1607) में, जूनागढ़ के नारंगर नामक एक संन्यासी ने इस मंदिर को उनसे छीन लिया। इस नारंगर ने कुंड के चारों ओर लंबे और चौड़े तटबंध बनवाए।

नारायण सरोवर भारत के पुराण प्रसिद्ध चार महा सरोवरों में से एक है। ये चार महा सरोवर चारों दिशाओं में माने गए: उत्तर में 'मान सरोवर', पूर्व में भुवनेश्वर के पास का 'बिन्दु सरोवर', दक्षिण में 'पम्पा सरोवर' और पश्चिम में कच्छ में स्थित 'नारायण सरोवर' । नारायण सरोवर का उल्लेख ब्रह्मवैवर्त और भागवत पुराण में आता हैं। इसके पहले के पुराणों में इसका उल्लेख नहीं मिलता। भागवत पुराण के छठे स्कन्ध के पांचवें अध्याय में एक कथा में इसका उल्लेख आता है। उसकी कुछ पंक्तियां इस प्रकार है-

तत्र नारायण सरस्तीर्थ सिंधु समुद्रयोः।
सगमों यत्र सुमहन्मुनि सिद्ध क निषेवितम् ।।३।।
तदुदस्पर्शनादेय विनिर्भूत मलाशयाः।
धर्मेपारमहंस्ये च प्रोत्यन्त मतयोडप्यूत ।।४।।

वल्लभाचार्य महाप्रभु भी यहां आए थे। विक्रम संवत् 1565 में मार्कण्ड ऋषि के आश्रम में भागवत सप्ताह कर यहां बैठक की स्थापना की। महाप्रभु की 84 बैठकों में, इसका स्थान 63 वां है।

यहां के वर्तमान मंदिरों का निर्माण कच्छ के राजा देशलजी-प्रथम की पत्नि राणी महाकुंवर ने करवाया। इसके पीछे एक कहानी है। शेरबुंलद ने कच्छ पर आक्रमण किया तब रानी ने मनौती मानी कि यदि कुंवर रण जीत कर लौटे तो वे कुंवर के वजन के बराबर रकम दान करेगी। कुंवर रण जीते। रानी मनौती पूर्ण करने द्वारकाधीश धाम गई। वहां पर भगवान के दर्शन को लेकर पुजारियों द्वारा परेशानियां पैदा की गई। रानी वहां से कच्छ लौटी तो यह प्रतिज्ञा करके की यहां पर दूसरा द्वारकाधीश धाम बनवायेंगी। इसके लिए उन्होंने नारायण सरोवर को पसंद किया।

वर्ष 1734 में, उन्होंने द्वारका मंदिरों की ही शैली में सबसे पहले लक्ष्मीनारायण और त्रिकामराय के मंदिरों का निर्माण कराया। उन्हें कुछ गाँवों की आय और कुछ करों की आय सौंपी फिर आदिनारायण, गोवर्धननाथ, द्वारकानाथ और लक्ष्मीजी के मंदिरों का निर्माण कराया। त्रिकामराय का मंदिर, शैली और आकार में कोटेश्वर के मंदिर जैसा है। यह 72 फीट लंबा, 684 फीट चौड़ा और 61 फीट ऊंचा है। यह 5 फीट 9 इंच ऊंचे चबूतरे पर स्थित है और इसमें तीन पार्श्व बरामदे हैं, जिनमें से एक बड़ा बरामदा बीच में है। सभी बरामदे बारह फीट ऊंचे स्तंभों पर टिके गुंबदों से ढके हैं। केंद्रीय बरामदा 21 फीट वर्गाकार है और प्रत्येक पार्श्व बरामदा 9 फीट 9 इंच ऊंचा है। 1819 के भूकंप ने केंद्रीय गुंबद को गिरा दिया था, लेकिन इसे बाद में फिर से बनाया गया। केंद्रीय गुंबद और मंदिर के बीच का स्थान सफेद और काले संगमरमर से पक्का है।

मंदिर की पूर्वी दीवार पर एक शिलालेख के साथ संगमरमर की पट्टिका है। दरवाजों पर चांदी की परत चढ़ी है। मंदिर में, चांदी के सिंहासन पर, त्रिकामराय की काले संगमरमर की मूर्ति स्थापित है। मूर्ति के सिंहासन के नीचे विष्णु के गरुड़ की काले संगमरमर की आकृति है, जो हाथ जोड़कर एक पैर पर घुटने टेके हुए हैं। त्रिकामराय की मूर्ति के ऊपर भक्तों द्वारा अर्पित चालीस सोने और चांदी के छत्र हैं। वाघेली महाकुंवर द्वारा निर्मित अन्य पांच मंदिर, हाल ही में निर्मित कल्याण राय मंदिर के साथ, चौदह स्तंभों और अड़तालीस भित्ति स्तंभों द्वारा छह गुंबदों की एक पंक्ति बनाते हैं, जिनके आधारों, शाफ्टों और शीर्षों पर नक्काशी की गई है। कोष्ठकों की आकृतियां घुमावदार कुंडलाकार हैं।

इस दौरान नारायण सरोवर की पाल भी बंधवाई। विक्रम राय के मंदिर के नीचे सात पंक्तियों का एक शिलालेख भी मिला जो इस प्रकार था- श्री गणेशाय नमः ॥ संवत 1790 वर्षे शाके 1666 प्रवर्तमाने रुधीरोद्गारी, सवंछरे सौम्यायने ग्रीष्म ऋतौ मसोत्तम ज्येष्ठ मासे शुक्ल पक्षे 8 तिर्थों बुधवार से श्री भुज्ञ नगरे विराजमान चिंरजीवी महाराज 213 श्री 7 देसलजी तस्थ भार्या पटराणी वाघेली बाई श्री 7 महाकुंवर बाई चिरंजीवी कुंवर लाखा जीनी माताजीए श्री नारायण सर नी पाल बंधानी मंदिर चणावी मे कष्णार्पण कीधा छे। श्री सेठ देवकरणे पासे रहीने चणाव्यां छे गजधर डूंगर ता मुलजी ता जगु श्री शुभं भवतु ॥

मंदिर निर्माण के बाद गोकुलदास लीलाधर बादशाह ने यहाँ पर धर्मशाला बनवाई। पालेश्वर, रंगनाथजी मंदिर, राममंदिर, वावचौक, नीतावाव, सप्तर्षिना कंड़ा, सूर्यकुंड, रामकुंड, हनुमान जी का मंदिर, राम गुफा, लक्ष्मण गुफा, शेष गुफा और हनुमान टेकरी आदि यहां के अन्य दर्शनीय स्थल हैं। यहां पितृ पक्ष में पितरों का तर्पण करने से उनकी आत्मा को मुक्ति मिलती है ऐसा माना जाता है। कहते हैं कि पहले सरोवर का क्षेत्रफल 1.5×2 माईल का था अब यह 990×1056 फीट का क्षेत्रफल घेरे हैं। यहां पर ठहरने के लिए धर्मशाला और भोजन की उत्तम व्यवस्था हैं। होटल आदि नहीं है। रण उत्सव के क्षेत्र से यह 110 किलोमीटर जितनी दूरी पर है। वातावरण की दृष्टि से यह स्थान उत्तम है।

कोटेश्वर-

चीनी यात्री व्हेनसांग अपनी भारत यात्रा के दौरान कच्छ भी आया था। उसने अपने यात्रा वर्णन में इसका उल्लेख किया है- कच्छ सिंघ की राजधानी से 267 मील दूर स्थित प्रदेश है। यहां का एक प्रमुख नगर 'कोटसीसीफालो' है। यह कच्छ में बहने वाली नदी और समुद्र के नजदीक है। यहां पर 80 जितने

बौद्ध विहारों में पांच हजार से अधिक भिक्षु रहते हैं। शहर के मध्य में महेश्वर का मंदिर था, जो मूर्तिकला से सुसज्जित था और जिसमें एक चमत्कारी मूर्ति थी और जिसकी पूजा राख से लिपटे विधर्मी करते थे।कुछ मंदिरों को छोड़कर, कोटेश्वर में अपनी पूर्व महानता के कुछ ही लक्षण दिखाई देते हैं।

'कोटसीसीफालो'- कोटेश्वर का अपभ्रंश मालूम पड़ता है। कोटेश्वर नाम के पीछे एक दंतकथा भी है। रावण ने शिवजी को प्रसन्न करने के लिए तप किया। शिवजी ने प्रसन्न होकर उसे एक चमत्कारी आत्मलिंग दिया। जिसकी स्थापना लंका में करने और नित्य पूजा करने का आदेश दिया। साथ ही एक शर्त भी रखी कि रावण कैलाश पर्वत से इसे ले जाते समय बीच में जमीन पर नहीं रखेगा। जमीन पर रखा तो फिर उसे उठा नहीं पाएगा। रावण लिंग को लेकर आकाश मार्ग से जा रहा था। उसकी इस प्राप्ति से देवता घबरा गए। ब्रह्माजी गाय बन कर कीचड़ के गड्ढे में फंस गये और देवता तपस्वी बनकर उन्हें बचाने का प्रयास करने लगे। उन्होंने आकाश मार्ग से जाते रावण से भी सहायता मांगी।

उन्होंने छल का सहारा लिया गोरक्षा के पवित्र कार्य में सहयोग देने के लिए रावण ने एक हाथ में शिवलिंग थाम दूसरे हाथ से गाय को निकालने का प्रयत्न किया। सफल नहीं हुआ तो शिवलिंग जमीन पर रख दोनों हाथों से गाय को निकालने प्रयास किया। उसके शिवलिंग को जमीन पर रखते ही देवता आपने कार्य में सफल हो गए। नीचे रखते ही शिवलिंग कोटी(1000) स्वरूप में बदल गया। रावण मूल शिवलिंग नहीं ढूंढ पाया। कोटी स्वरूप के कारण ही इस स्थान का नाम कोटेश्वर पड़ा ऐसा कहा जाता हैं। अब तो यह संख्या बहुत कम हो गई हैं।

यह मंदिर, गांव के उत्तर-पश्चिम में लगभग एक मील की दूरी पर एक बलुआ पत्थर के टीले पर, अपने पश्चिमी मुख को धोने वाले समुद्र से उठते हुए, एक किलेबंद दीवार से घिरे हुए हैं और द्वार तक पहुंचने के लिए तीन सीढ़ियां हैं। द्वार के बाईं ओर एक लेख से पता चलता है कि वर्तमान किला और मंदिर 1820 (सन् 1877) में दो सेठों, सुंदरजी और जेठा शिवजी, जो जाति से ब्रह्म-क्षत्री थे, द्वारा बनवाए गए थे। बरामदे में तीन गुंबद हैं, केंद्रीय गुंबद के नीचे राव देसाल जी (1718-1741) द्वारा भेंट किया गया एक

बड़ा और सुंदर पीतल का बैल है; दाहिने गुंबद में हनुमान की एक बड़ी मूर्ति है; और बाएं गुंबद में गणपति की एक मूर्ति है। बरामदे के अंदर हॉल, मंडप, 19 फीट 9 इंच लंबा और 24 फीट 8 इंच चौड़ा है, जिसमें एक बड़ा केंद्रीय और दो गुंबद हैं। हॉल के भीतरी छोर पर और उसके और मंदिर के बीच, दोनों तरफ गणपति जी और हनुमान जी की आकृतियां हैं। मंदिर की स्क्रीन की दीवार में हाल ही में (1820 में) मंदिर के पुनर्निर्माण का जिक्र करते हुए दो शिलालेख हैं।

काले संगमरमर से निर्मित यह मंदिर 11 फुट वर्गाकार का है। पिछली दीवार में माता पार्वती की एक प्रतिमा है और पश्चिमी दीवार में गणपति और रेवाजी की दो प्रतिमाएँ हैं। मंदिर में काफ़ी पीछे, एक जलधारी के मध्य में, चार फुट ऊंचा एक लिंग है जिसे स्वयंभू कहा जाता है। स्थानीय कथाओं के अनुसार, अलाउद्दीन खिलजी (1295-1315) ने लिंग के सिरे पर कुछ लोहे की कीलें ठोंकी थीं।

इस आधुनिक मंदिर के स्थल पर एक पुरानी इमारत थी, जिसके एक पत्थर पर यह शिलालेख अंकित है कि इसे घोलय के केरों ने बनवाया था। यह पत्थर गायब हो गया है, लेकिन केरों के बीच, जो अब एक मुसलमान कबीला हैं, यह कहानी अभी भी कायम है कि उनके पूर्वजों ने मंदिर का निर्माण कराया था। मंदिर के पुनर्निर्माण (1820) के समय पूर्वी दीवार की नींव रखी गई और इसे पश्चिम में बड़ा किया गया।

इस परिवर्तन से लिंग की स्थिति इतनी बदल गई कि वह अब केंद्रीय कमल के नीचे नहीं रहा। इसे शासक के लिए अशुभ माना जाता था, और 1863 (एस. 1920) में राव प्रागमलजी ने जब मंदिर का दौरा किया, तो उन्होंने लिंग के ऊपर एक चांदी का छत्र रखने का आदेश दिया। पास के अन्य दर्शनीय स्थलों में कल्याणेश्वर, शरणेश्वर, रामेश्वर, चपलेश्वर, नारद लोटिया आदि हैं। इसके आगे समुद्र आ जाता है। नारायण सरोवर भुज से लगभग 175 किलोमीटर की दूरी पर है। भुज पहुंचने के लिए विमान मार्ग या रेलवे मार्ग का उपयोग किया जा सकता है।

*****

हस्तिनापुर : धर्म, इतिहास और सभ्यता की आदि भूमि

दीपक भारद्वाज
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र,
नई दिल्ली

केंद्रीय बजट में देश के 15 प्रमुख पुरातात्विक एवं ऐतिहासिक स्थलों के समग्र विकास की घोषणा की गई है। इन स्थलों में हस्तिनापुर का सम्मिलित होना केवल एक प्रशासनिक निर्णय नहीं, बल्कि भारतीय सभ्यता के एक अत्यंत प्राचीन और गौरवशाली केंद्र को समकालीन राष्ट्रीय चेतना से पुनः जोड़ने का संकेत है। यह वही हस्तिनापुर है, जिसे द्वापर युग का प्रधान राजनीतिक केंद्र माना गया, जो महाभारत की घटनाओं का साक्षी रहा और जिसने ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध—तीनों धार्मिक परंपराओं में समान रूप से विशिष्ट स्थान प्राप्त किया।

हस्तिनापुर का नाम भारतीय स्मृति, आस्था और इतिहास में केवल एक नगर के रूप में नहीं, अपितु एक जीवंत सांस्कृतिक प्रतीक के रूप में अंकित है। समय के साथ यह नगर वनखंड में परिवर्तित होता गया, किंतु इसकी ऐतिहासिक चेतना कभी लुप्त नहीं हुई। आज जब आधुनिक भारत अपनी सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित करने और जनमानस से जोड़ने की दिशा में आगे बढ़ रहा है, तब हस्तिनापुर का पुनर्विकास अतीत और वर्तमान के बीच एक सशक्त सेतु के रूप में उभरता है। इस परिप्रेक्ष्य में हस्तिनापुर के इतिहास, उसकी भौगोलिक स्थिति और सांस्कृतिक महत्व को समझना और भी आवश्यक हो जाता है। शताब्दियों के प्रवाह में हस्तिनापुर एक विस्तृत वनखंड के रूप में परिवर्तित होता गया। इस वन के दक्षिण एवं पश्चिमी भागों में कहीं कहीं कुछ गाँव बसे हुए हैं, किंतु इसका अधिकांश क्षेत्र आज भी निर्जन है। हिन्दू श्रुति के अनुसार जिस प्रकार त्रेतायुग की राजधानी अयोध्या थी और कलियुग की राजधानी दिल्ली मानी जाती है, उसी प्रकार द्वापर युग का प्रधान राजनीतिक केंद्र हस्तिनापुर था।

हिन्दी साहित्य में इस नगर के अनेक नाम मिलते हैं—गजपुर, गयपुर, गयनगर, हथनापुर, नागपुर, हस्तिनापुर, हत्थिणापुर, ब्रहास्थल, हत्थिपुर, हस्तिग्राम, नागाहव्य तथा 'हाथियों का नगर'। गजों अर्थात हाथियों की बहुलता के कारण इस नगर का प्रारंभिक नाम गजपुर पड़ा। महाराज हस्तिन ने इसे 'हस्तिनापुर' नाम प्रदान किया। महाभारत युद्ध के उपरांत इस प्रदेश पर नाग जाति का अधिकार हो जाने से यह 'नागपुर' कहलाया। 'वसुदेवहिंडि' नामक ग्रंथ में इस नगर का नाम 'ब्रहास्थल' भी मिलता है। बौद्ध ग्रंथ 'प्रवदान' के अनुसार कुरूरट्ठम की राजधानी का नाम 'प्रासंदीवत' था।

प्राचीन हस्तिनापुर भागीरथी गंगा के दक्षिण पश्चिमी तट पर स्थित था और यह कुरूराष्ट्र की राजधानी था। भारतीय संस्कृति की ब्राह्मण, जैन और बौद्ध—तीनों धार्मिक परंपराओं में इस नगर को जो महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, उससे यह स्पष्ट होता है कि भारत के ज्ञात ऐतिहासिक काल के आरंभ से बहुत पहले ही यह नगर प्रसिद्ध हो चुका था। अयोध्या और काशी के साथ साथ गजपुर अर्थात हस्तिनापुर के निर्माण को भी दैवीय परंपरा से जोड़ा गया है। जैन अनुश्रुति के अनुसार यह वह समय था जब सभ्य युग, अर्थात कर्मभूमि जीवन के अवसान पर, प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव उद्यम प्रधान कर्मयुग का प्रवर्तन कर रहे थे।

ऋषभदेव के कनिष्ठ पुत्र बाहुबलि को तक्षशिला और हस्तिनापुर का राज्य प्राप्त हुआ तथा बाहुबलि के ज्येष्ठ पुत्र सोमप्रभ गजपुर के प्रथम नरेश बने।

उत्तर भारत में गंगा का कछार, विशेषकर गंगा यमुना का दोआब, अत्यंत उर्वर प्रदेश रहा है। हिमालय के निकट होने के कारण यहाँ सिंधु घाटी की तुलना में अधिक वर्षा होती है। संभवतः भारत के प्रारंभिक किसान सर्वप्रथम इसी क्षेत्र में स्थायी रूप से बसे होंगे और ईराक के उपजाऊ सुमेर प्रदेश की भाँति भारत के प्रारंभिक नगर भी गंगा यमुना के तटों पर विकसित हुए होंगे। इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय नागरिक जीवन का आरंभ भी यहीं से हुआ।

हस्तिनापुर की भौगोलिक स्थिति विशेष रूप से महत्वपूर्ण थी। यह सप्तसिंधु क्षेत्र से गंगा घाटी में प्रवेश का द्वार था और गंगा के तट पर स्थित होने के कारण आर्यों ने सप्तसिंधु से पूर्व की ओर बढ़ते समय इसे प्रमुख केंद्र के रूप में चुना तथा एक सुव्यवस्थित नगर के रूप में विकसित किया। निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि हस्तिनापुर भारतवर्ष के सर्वप्रथम नगरों में से एक अत्यंत महत्वपूर्ण नगर था। इसकी स्थापना का निश्चित काल बताना कठिन है, किंतु इतना स्पष्ट है कि महाभारत काल से पूर्व ही यह एक समृद्ध एवं प्रसिद्ध नगर के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था।

हस्तिनापुर का महाभारतकालीन इतिहास उतना ही ज्ञात है जितना हिन्दू, जैन और बौद्ध अनुश्रुतियों के आधार पर संक्षेप में वर्णित मिलता है। महाभारत और कालिदास के वर्णनों से यह संकेत मिलता है कि हस्तिनापुर के उत्तर में मीलों तक विस्तृत घना वन था। वर्तमान नजीबाबाद, बिजनौर, नगीना और धामपुर आदि नगर जिस क्षेत्र में स्थित हैं, वह संभवतः उसी प्राचीन महावन का भाग रहा होगा।

वर्तमान समय में हस्तिनापुर में लगभग 15 एकड़ भूमि पर लगभग 3000 करोड़ रुपये की लागत से एक राष्ट्रीय संग्रहालय की स्थापना प्रस्तावित है। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, मेरठ कार्यालय में सुरक्षित 1400 से अधिक पुरावशेषों को इस संग्रहालय में प्रदर्शित किया जाएगा, जिससे देश की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत आमजन के समक्ष प्रस्तुत हो सकेगी। इस परियोजना में पर्यटन विभाग भी सहयोग प्रदान कर रहा है। प्रस्तावित संग्रहालय में विरासत पथ, विविध दीर्घाएँ तथा डिजिटल सूचना सुविधाएँ विकसित की जाएँगी।

हस्तिनापुर को दीर्घकाल तक उत्तर भारत के प्राचीनतम सांस्कृतिक केंद्रों में से एक होने का गौरव प्राप्त रहा है। सभी भारतीयों के लिए इसका धार्मिक महत्व विशेष रहा है। बौद्ध धर्म का भी हस्तिनापुर से गहरा संबंध रहा है। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार सोलह महाजनपदों में से नवें महाजनपद 'कुरूरट्ठ' की राजधानी हस्तिनापुर अथवा हस्तिपुर थी। सम्राट अशोक ने प्राचीन हस्तिनापुर के एक सिरे पर स्थित मेरठ नगर में अपना एक लेख स्तंभ स्थापित कराया। कुषाण नरेशों के शासनकाल में हस्तिनापुर में बोधिसत्व मैत्रेय की पूजा का विशेष प्रचार रहा, जिससे इसके बौद्ध धार्मिक महत्व की पुष्टि होती है।

इस प्रकार हस्तिनापुर न केवल भारतीय इतिहास और संस्कृति का एक प्राचीनतम साक्ष्य है, अपितु यह नगर धार्मिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी भारतीय सभ्यता के विकास में एक केन्द्रीय स्थान रखता है।

*****

पूर्वांचल का अद्भुत शिल्प - मूंज शिल्प कला

संगीता
मूंज शिल्पकार
बनारस

हमारे भारतीय सनातन परंपरा में श्रीहनुमान चालीसा की चौपाई है-

हाथ बज्र औ ध्वजा बिराजै। काँधे मूँज जनेऊ साजै।।

यही मूँज-एक ऐसी घास होती है, जो भारत के उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल जिलों और इसके आस-पास के इलाकों में पाई जाती है। मूँज घास जिसका वानस्पतिक नाम ***सैकरम मुंजा*** है, गंगा और यमुना के दोवाब क्षेत्रों में बहुतायत में पाई जाती है। मूंज घास भारत में व्यापक रूप से पाई जाने वाली एक बहुमुखी और पर्यावरण-अनुकूल प्राकृतिक संसाधन है। रीड ग्रास के नाम से प्रचलित यह पौधा सदियों से भारतीय संस्कृति और शिल्पकला का अभिन्न अंग रहा है। इसका उपयोग भारत के सनातन संस्कारों में विभिन्न प्रकार से किया जाता है, जिसमें एक है उपनयन या जनेऊ संस्कार। इसके अतिरिक्त मूँज की व्यापक उपलब्धता तथा इसका अनोखापन इसे पारंपरिक शिल्प से लेकर आधुनिक औद्योगिक उत्पादों तक, विभिन्न प्रकार के अनुप्रयोगों के लिए एक मूल्यवान संसाधन बनाते हैं। मुंजा या मूंज या सरकंडा एक बारहमासी और खरपतवार जैसी घास है। भारतीय कृषि विज्ञान केन्द्र के अनुसार यह गन्ने की प्रजाति की घास है। मूंज अपनी जड़ों से निकलने वाले नए पौधों के माध्यम से फैलती है। मूंज घास वर्षा आधारित या असिंचित तथा रेगिस्तानी क्षेत्रों में मृदा अपरदन को रोकने में बहुत सहायक होती है। मुंजा के पौधे की जड़ें एक बार ज़मीन में जम जाने के बाद लगभग 30-35 वर्षों तक उपज देती रहती हैं।

मूंज घास के अनेकों उपयोग हैं। मूंज घास की पत्तियाँ बहुत नुकीली होती हैं। अगर हाथ या शरीर का कोई भी हिस्सा इससे रगड़ खा जाए, तो वह जगह कट जाती है। मूंज घास के इसी गुण के कारण, किसान अक्सर इसे अपने खेतों की मेड़ों पर प्राकृतिक बाड़ लगाने के लिए उगाते हैं, ताकि उनकी फसलें जंगली जानवरों और नील गाय आदि से सुरक्षित रहें। मूंज घास नदियों के किनारे, सड़कों, राजमार्गों, रेलवे लाइनों और तालाबों के आसपास की

परती भूमि पर प्राकृतिक रूप से उगती है। इस पौधे के सभी भाग, जैसे कि इसकी पत्तियाँ, जड़ और तने, औषधीय या अन्य रूप से उपयोग किए जाते हैं। रेतीले क्षेत्रों में, जब बारिश के दौरान पानी का प्रवाह तेज़ होता है, तो इसका उपयोग मृदा अपरदन को रोकने में बहुत उपयोगी साबित होता है। सूखे और अकाल की स्थिति में, मूंज घास की हरी पत्तियों को पीसकर पालतू पशुओं को खिलाकर हरे चारे की पूर्ति की हो जाती है। जब गाँव में गर्मी के मौसम में काम नहीं होता, उस समय मुंजा की कलियों से रस्सियाँ और कई अन्य प्रकार की घरेलू ज़रूरत की वस्तुएँ बनाई जाती हैं। इसके सरकंडों का उपयोग छप्पर बनाने के लिए किया जाता है।

मूंज शिल्प कला का इतिहास

मूँज शिल्प कला का इतिहास हज़ारों वर्ष पुराना है। ऐसा माना जाता है कि महाभारत के युद्ध से पहले माता कुन्ती ने अपने पहले पुत्र कर्ण को मुंजा की बनी टोकरी में रखकर बहते पानी में त्याग दिया था। इस मूंज से हमारी नानी दादी घर में सब्जियां, फल, लड्डू, आदि सामान रखने के लिए टोकरियाँ बनाती थीं। विडंबना यह है कि पर्यावरण-अनुकूल यह परंपरा धीरे-धीरे खो गई है। हालांकि उत्तर प्रदेश राज्य, इस शिल्प कला को बढ़ावा देने के लिए इसे प्रयागराज की शिल्प कला के रूप "**एक राज्य एक उत्पाद**" की योजना के अंतर्गत विकसित कर रहा है, परंतु अभी भी बहुत कुछ किया जाना बाकी है। इस शिल्प कला में महिलाओं का योगदान महत्वपूर्ण है, वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी इस कला को संजोए हुए हैं। हाथ से बुने घास के उत्पाद बनाकर, ये शिल्पकार महिलाएँ अतिरिक्त आय अर्जित करने और अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा प्रदान करने में सक्षम हैं। इतना ही नहीं, महिलाएं एक अच्छा जीवन स्तर भी देने के काबिल हो गई हैं। ग्रामीण महिलाएं अपने बच्चों को पढ़ाने के साथ-साथ उन्हें इस परंपरा के बारे में सिखाती भी हैं।

शिल्पकला की प्रक्रिया-

नदियों के किनारे बहुतायत में पाई जाने वाली, मुक्त और जंगली घास - मूंज - अक्टूबर और नवंबर के महीनों में काटीजाती है। महिलाएँ अपने घरेलू उपयोग के लिए और दुल्हन के साज-सामान से जुड़ी वस्तुओं को बनाने के लिए टोकरियाँ बुनती और बनाती हैं। उत्तर प्रदेश में यह मुख्यतः कृषि के बाद एक द्वितीयक व्यवसाय के रूप में किया जाता है। इन पर्यावरण-अनुकूल उत्पादों का उपयोग सूखे भंडारण के लिए कंटेनर, खाद्य भंडारण उपकरण, कैरी बैग और दीवार सजावट के लिए किया जा सकता है। मूंज शिल्पकला की प्रक्रिया घास को धूप में सुखाने से शुरू होती है। मूंज और कासा घास, दोनों को कई दिनों तक धूप में सुखाया जाता है, फिर सूखी घास से छोटी-छोटी गांठें बनाई जाती हैं, जिसे स्थानीय लोग **'बल्ला'** कहते हैं। इन गांठों को ठंडे पानी में भिगोया जाता है, जिससे उनका लचीलापन बढ़ता है। चूँकि घास साल भर उपलब्ध नहीं होती, इसलिए महिलाएँ इन 'बल्लों' या सीधे सूखे मूंज को एक अंधेरी और सूखी जगह पर रखती हैं। गाँव में उपलब्ध कच्चे और प्राकृतिक रंगों

का उपयोग घास को रंगने के लिए किया जाता है। लाल, हरा, बैंगनी, पीला, गुलाबी, नीला, नारंगी और अन्य पाउडर रंगों को उबलते पानी में मिलाया जाता है, जहाँ मूंज घास को 30-40 मिनट तक भिगोया जाता है और फिर धूप में सुखाया जाता है, जिससे उत्पाद को जीवंत रंग मिलते हैं। पहले जब महिलाएं शिल्पकारी करती थीं तो कुछ प्राकृतिक रंगों का उपयोग करती थीं, जो उन्हें सिंदुर के पेड़ से मिलता था। इस प्रकार के शिल्पकारी वाले काम करते वक्त महिलाएं स्थानीय लोक गीत भी गाती थीं। दस्तकारी उत्पादों की एक श्रृंखला बनाने के लिए पारंपरिक कुंडलन तकनीक-जो घुमावदार होती है, का उपयोग किया जाता है।

जाते हैं, क्योंकि लोग इसे शुभ मानते हैं। यदि किसी घर से मूंज की डलियों में खाजा या लड्डू नहीं मिलता है तो स्थानीय लोग उसकी निंदा करने लगते हैं। लेकिन बढ़ते उद्योग और प्रौद्योगिकी ने इस शिल्प कला को कहीं पीछे छोड़ दिया है। आज देश भर में प्रसिद्ध यह कला पहचान की मोहताज हो गई। स्वयं महिलाओं ने गांव में घरों से बाहर जाकर सरपत, कास, और मूंज को खेतों, नदियों, गलियों के किनारे से काट कर इस शिल्प कला को बढ़ाने का काम किया। परंतु जबसे महिलाओं की सुरक्षा खतरे में पड़ी है, तबसे इस कला पर एक ग्रहण सा लग गया है। उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल में अर्थात प्रयागराज और मीर्जापुर जिलों से विलुप्त हो रही मूंज शिल्पकला की ओर

फोटो क्रेडिट-गाथा

निष्कर्ष-

अनेक हस्तशिल्पों के केंद्र, पूर्वांचल में स्थित एक पहल के रूप में, इन महिलाओं का सदैव सकारात्मक दृष्टिकोण और प्रयास, विभिन्न कलारूपों में इसी अमिट भावना को प्रसारित करने के लिए प्रेरित करता रहा है। भारत के प्राचीन नगरों में से एक प्रयागराज, मीर्जापुर, बनारस आदि में आज भी मूंज शिल्प कला का महत्व है। शादी-विवाह, पारंपरिक त्यौहारों, छठ पूजा आदि में मूंज की बनीं हुईं डलियों का उपयोग होता है। आज भी विवाह मंडप में मूंज की डलियों में ही खाजा, मिठाई, लड्डू आदि दिए

ध्यान आकृष्ट करने की आवश्यकता है। सरकार की मद से अब ऐसे अनेकों स्वयं-सहायता समूह हैं, जो बढ़-चढ़कर मूंज शिल्पकला का संवर्धन कर रहें हैं। इन उत्पादों को ऑनलाइन खरीदा जा सकता है, और बेचा जा सकता है। आवश्यकता है ऐसे व्यक्तियों की जो इस कला की महत्ता को समझते और स्वीकार करते हैं। इसके साथ ही पर्यावरणीय- अनुकूल यह मूंज शिल्पकला वैश्विक मंच पर भी पहुँचने में सक्षम है। यद्यपि, बढ़ते डिजिटल उपयोग के कारण इस कला को देश-विदेशों में एक पहचान मिली है, लेकिन महिलाओं को प्रोत्साहित और सुरक्षित किए बिना इस शिल्पकला का संवर्धन और परिरक्षण असंभव है।

*****

भारतीय संस्कृति में मन्त्र

शशिबिन्दुनारायण मिश्र
साहित्यकार,
गोरखपुर, उत्तर प्रदेश

भारतीय सनातन संस्कृति में सुखमय और उन्नतिशील जीवन के लिए शान्ति को आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य माना गया है। व्यक्ति के जीवन में उस उन्नति और सुख का कोई मूल्य नहीं, जिसमें शान्ति नहीं है। इसलिए समूचे भारतीय वाङ्मय में हमारे ऋषियों की सबसे बड़ी खोज शान्ति की कामना है। हमारी संस्कृति इसीलिए दुनिया की अन्य संस्कृतियों से अलग और उन्नत है। शान्ति की यह कामना वैदिक -औपनिषदिक ग्रन्थों से लेकर आधुनिक काल के साहित्य में दिखाई पड़ती है। यह कामना अनगिनत संस्कृत मन्त्रों और कविताओं के साथ है।

"ॐ द्यौ: शान्तिरन्तरिक्षँ शान्ति: पृथिवी शान्तिराप: शान्तिरोषधय: शान्ति: ।

वनस्पतय: शान्तिर्विश्वे देवा: शान्तिर्ब्रह्म शान्ति: ।

... . सा मा शान्तिरेधि।।"

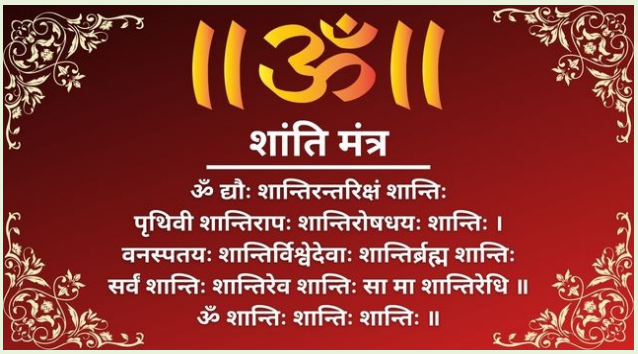

संस्कृति शब्द 'कल्चर' का पर्याय नहीं है। संस्कृति शब्द भी संस्कार से बना है। मन्त्रों द्वारा जन्म के पश्चात् अनेक मांगलिक अनुष्ठान होते हैं और जीवन नया संस्कार पाता रहता है। **पं. विद्यानिवास मिश्र निरन्तरता को ही संस्कृति मानते थे। वे कहते थे - "भारतीय संस्कृति के स्वरूप पर जब हम विचार करते हैं, तब बार-बार हमारी स्मृति में 'धर्म' शब्द आता है। धर्म सार्थक जीवन की विधि है। पुरुषार्थ साधन है और मनुष्य का शरीर इस धर्म का साधन है। शरीर ब्रह्माण्ड का ही एक प्रतिरूप है।"**

मनुष्य धर्म से ही मनुष्य बनता है। यदि धर्म न रहता तो संसार कब का समाप्त हो गया होता। भारतीय संस्कृति में धर्म और मन्त्र के बीच अटूट सम्बन्ध है। प्राचीन आर्य भारत की महान् उपलब्धियों में एक महान् उपलब्धि मन्त्र-सृजन है और मन्त्र मानसिक-त्राण अथवा शान्ति के लिए बेहद उपयोगी हैं। जो हमारी परम्परा का अभिन्न हिस्सा हैं। 'मन्त्राधीनं जगत्सर्वम्' हर काल में चरितार्थ रहा है। इस चरितार्थता का सबसे बड़ा आधार हम सबका अभय होना रहा है। हमने ईश्वर से मन्त्रों में याचना की --

"यतो यत: समीहसे ततो नो अभयं कुरु।

शन्न: कुरु प्रजाभ्योऽभयं न: पशुभ्य:।।"

भारतीय संस्कृति और धर्म में कल्याणकारी मन्त्रों की चरितार्थता और प्रासंगिकता अनादिकाल से सर्वविदित है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में प्रगतिशील और यथार्थवादी कथा साहित्य के सिरमौर मुंशी प्रेमचंद की कहानी 'मन्त्र' से भी यह बात प्रमाणित होती है, जिसमें डॉ चड्ढा के पुत्र की सर्पदंश से प्राण की रक्षा भगत द्वारा लगातार मन्त्रों के पुरश्चरण से होती है। देश के जाने-माने साहित्यकार डॉ रामदरश मिश्र ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि वे प्राइमरी स्कूल बिशुनपुरा में पढ़ते हुए अपने शिक्षक पं. रामचन्द्र तिवारी की भयंकर मार की वजह से पढ़ाई छोड़ चुके थे। खेती-बाड़ी और घास-पात के काम में लग चुके थे। बालक रामदरश मिश्र को खोजते हुए उनके शिक्षक पं रामचन्द्र तिवारी उनके घर पर पहुँचे तो स्वयं सुना कि पिता भी बालक रामदरश मिश्र की

फजीहत कर रहे थे --"अरे, यह अभागा पढ़ेगा नहीं, घास छीलेगा। हम लोग कोशिश करके हार गये। स्कूल नहीं जा रहा है।" रामचन्द्र तिवारी ने यह सुनकर रामदरश मिश्र के पिता से कहा --"अरे, सुनिए-सुनिए मिसिर जी ! किसने कहा यह घास छीलेगा? यह तो बहुत बड़ा आदमी बनेगा। यहाँ आ बचवा।" और उन्होंने मेरे कान में मन्त्र फूँकने की तरह कुछ कहा और पिता जी से कहा,"जाइए मिसिर जी, अब इसे मैंने मन्त्र दे दिया है, यह कल से स्कूल आएगा और पढ़ेगा।" रामदरश मिश्र आगे लिखते हैं कि -"उसके बाद मन हल्का हो गया था। पंडित जी का जो भय मेरे मन पर पत्थर की तरह जमा हुआ था वह उन्हीं के स्नेह की आँच से पिघलकर बह गया।" यह होता है मन्त्र और उसका प्रभाव। बशर्ते वह मन्त्र सीधे हृदय से जुड़ता हो। मन्त्र केवल कुछ शब्दों के विन्यास और तुकबन्दी भर नहीं होते। 'मन्त्र' शब्द का अर्थ ही है **'माननात् त्रायते इति 'मन्त्रः' जिसके मनन - चिंतन-स्मरण से त्राण हो, रक्षा हो, कल्याण हो, शान्ति मिले वह 'मन्त्र' है।** हमारे भीतर गुरुत्वाकर्षण पैदा करते हैं। आज का विज्ञान भी इसे अस्वीकार नहीं कर सकता है। मन्त्रों के लय के साथ जब श्वासों का लय जुड़ता है तो वह केवल श्वास नहीं रह जाता है,वह प्राणशक्ति बन जाता है। वह ब्रह्माण्ड के अस्तित्व से सीधे जुड़ जाता है। मन्त्र हमें जगत् की विराट सत्ता से जोड़ते हैं। मन्त्रों की ध्वनि की जब नाभि पर सकारात्मक चोट पड़ती है तो विराट की महत्ता का गहन बोध होने लगता है। वह विराट सत्ता ही इस ब्रह्माण्ड की सूक्ष्मतम और विशालतम महाशक्ति है जिसे हमने ईश्वर अथवा भगवान् नाम दिया है। असूक्ष्मतम और विशालतम महाशक्ति तो अदृश्य है, पर उनका प्रकट विस्तार ये पञ्च महाभूत हैं, अर्थात् पञ्च महाभूतों से सीधे हमारा मन जुड़ जाता है। पञ्च महाभूतों में हमारी तरह ही चेतना है। महाभारत में ऋषि भरद्वाज की शंकाओं का समाधान करते हुए महर्षि भृगु पञ्च महाभूतों के बारे में कहते हैं --

"चेष्टा वायुः खमाकाशमूष्माग्निः सलिलं द्रवः।

पृथिवी चात्र संघातः शरीरं पाञ्चभौतिकम्।।

इत्येतैः पञ्चभिर्भूतैर्युक्तं स्थावर-जङ्गमम्।

श्रोतं घ्राणं रसः स्पर्शो दृष्टिश्चेन्द्रियसंज्ञिता।।"

हमारा शरीर भी इन पञ्च महाभूतों का ही अत्यन्त छोटा-सा संस्करण है। हम सब चलते-फिरते महाभूत ही हैं । हमारी संस्कृति में सर्वाधिक लोकप्रिय मन्त्रों में स्वस्ति वाचन के मन्त्र, 'गायत्री-मन्त्र' और 'महामृत्युञ्जय-मन्त्र' को माना जाता है और इन्हें सर्वाधिक कल्याणकारी और पूजनीय माना गया है। गायत्री-मन्त्र को तो सर्वशक्तिमान माना जाता है। स्वामी विवेकानन्द जी ने गायत्री- मन्त्र पर विचार करते हुए कहा था --"परमात्मा से माँगने योग्य वस्तु सद्बुद्धि है। गायत्री सद्बुद्धि का मन्त्र है, अतः यह मन्त्रों का मुकुट मणि है।"

तीनों प्राणायामों (कुम्भक, पूरक और रेचक) के बाद गायत्री-जप से महापातक नष्ट होते हैं,ऐसा शास्त्रों में कहा गया है। 'गायत्री- मन्त्र' को मोक्षदायिनी भी कहा गया है। मेरे विद्यालय में प्रार्थना सभा- स्थल पर होने वाली दैनन्दिन प्रार्थना में सर्वप्रथम 'गायत्री-मन्त्र' का पाठ होता है। अनेक संदर्भों सहित 'गायत्री- मन्त्र' की विस्तृत व्याख्या अपने विद्यालय में इण्टरमीडिएट कक्षाओं में अध्ययनरत छात्र-छात्राओं के आग्रह पर मुझे इस वर्ष सत्रारम्भ में करनी पड़ी थी।

सर्वप्रथम 'ऋग्वेद' के तृतीय मण्डल के 62 वें सूक्त में 'गायत्री -मन्त्र' 24 अक्षरों के साथ उल्लिखित है --

"ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।" यह मन्त्र 'शुक्ल-यजुर्वेद' के 36 अध्याय में तीसरे मन्त्र के रूप में भी उल्लिखित है। 'भूर्भुवः स्वः' इन तीन महाव्याहृतियों को छोड़कर गायत्री-मन्त्र में 24 अक्षर हैं। महाव्याहृतियों के साथ मिलकर ही पूरा 'गायत्री-मन्त्र' बनता है। गायत्री-मन्त्र से पहले **तीन व्याहृतियों का उच्चारण** अनिवार्य रूप से हम करते हैं और उसके **भी पूर्व 'ॐ' का उच्चारण करते हैं।** यह ॐकार की ध्वनि इस ब्रह्माण्ड की प्रथम ध्वनि है। अस्तित्व का सन्नाटा जब टूटता है तो तो ब्रह्माण्ड में सर्वप्रथम यही ध्वनि गूँजती है। गायत्री-मन्त्र से शरीर में एक विशेष प्रकार की ऊष्मा पैदा होती है। हम 'गायत्री- मन्त्र' द्वारा परमात्मा से धन या लम्बी आयु नहीं माँगते, स्वर्ग जैसी वस्तु भी नहीं माँगते । हम प्रकाश की प्रार्थना करते हैं। हम बुद्धि की कुण्ठा को दूर करने के लिए दिव्य तेज का आह्वान करते हैं। हम केवल सद्बुद्धि माँगते हैं।

मन्त्र द्वारा हम दिव्य ज्योति को अपने भीतर धारण करने की बात करते हैं। गायत्री-मन्त्र जब नाभि से यानी मूलाधारचक्र से उठ रही है तो ऐसा प्रतीत होगा कि हम अकेले नहीं हैं, कोई सूक्ष्म पर विराट शक्ति का हमारे साथ होने का अनुभव होगा। गायत्री-मन्त्र सकारात्मक ऊर्जा और चेतना का मन्त्र है। प्रार्थना का असर धीरे-धीरे होता है। क्रोध की आग में हम बहुत जल्दी इसलिए जलने लगते हैं क्योंकि अपमान अथवा हानि से जुड़े शब्दों के निहितार्थ को गहराई से ग्रहण कर लेते हैं। लेकिन मन्त्र-जप में हम ऊपर-ऊपर होंठ हिलाते हैं। गायत्री-मन्त्र को भी यदि हम अपमान या हानि वाले शब्दों की तरह उसी तीव्रता से ग्रहण करने लगें तो उसी क्षण मन्त्र का प्रभाव दिखाई देने लगेगा और शान्ति की अनुभूति होगी। गायत्री-मन्त्र प्रकाश देवता सूर्य की उपासना के लिए है। गायत्री-मन्त्र नाद की सर्वोच्च अभिव्यक्ति तो है ही और ब्रह्माण्डीय ऊर्जा की भी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है। गायत्री-मन्त्र सूर्य देवता का आह्वान है, क्योंकि वही प्रकट रूप में दिव्य तेज है।

सावित्री को समर्पित होने के कारण इसे सविता-मन्त्र भी कहा गया है। 'गायत्री- मन्त्र' के मन्त्र-द्रष्टा ऋषि विश्वामित्र हैं। 'गायत्री' शब्द 'गायत्र:' से बना है, जिसका अर्थ है तीनों लोकों में व्याप्त ईश्वर का गान जो कि मूलतः प्रकाश रूप में है, (सृष्टि का गान, जीवन का गान और ईश्वर का गान अर्थ भी बताया गया है)।

जाने-माने मनीषी साहित्यकार कुबेरनाथ राय 'रामकथा' को 'सूर्यमिथक' मानते हैं। 'महाकवि की तर्जनी' में कुबेरनाथ राय लिखते हैं --"सूर्य के दो अयन हैं -उत्तरायण और दक्षिणायण। प्रत्येक अयन में वह अपनी द्वादश-कला के साथ विहार करता है और इसीलिए 'गायत्री-मन्त्र' (सविता-मन्त्र) 24 अक्षरों का रखा गया है - 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि धियो यो न: प्रचोदयात्।' रामायण के वर्तमान संस्करण में 24 हजार श्लोक हैं। 'आदिरामायण' के 12 हजार श्लोक सूर्य की द्वादश कला के प्रतीक हैं और काव्य नाम है 'राम' नामक नक्षत्र का 'अयण' अर्थात् भ्रमण-वृत्त या भ्रमण-पथ।" ब्रह्माण्ड की सर्वव्यापी सत्ता 'तेज/प्रकाश/ज्योति' स्वरूप ही है, जिसे वेदों ने ईश्वर नाम दिया है (आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्)। महाभारत में वर्णित श्रीमद्भगवद्गीता के 'विश्वरूप दर्शन योग' में वासुदेव श्रीकृष्ण अर्जुन को विराट् रूप का दर्शन कराते हैं। वहाँ विराट् रूप मानो एक आत्मकथन है, एक निर्वचन है एक अकाट्य तर्क। अर्जुन ने वासुदेव श्रीकृष्ण के मुख में ईश्वर को केवल अलौकिक तेज के रूप में ही देखा था और देखते ही तुरन्त अचेत हो गये थे, पुनः वासुदेव श्रीकृष्ण की कृपा से पूर्ववत् चेतना लौटने पर अर्जुन करबद्ध भक्ति भाव से पुकार उठते हैं --"त्वामादिदेव: पुरुष: पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् । वेत्तासि वेद्यं च परम च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूपम्।" यह उस अलौकिक प्रकाश- पुञ्ज की अभ्यर्थना थी, जिसमें पूरा ब्रह्माण्ड दिखाई दिया। यहाँ भी अखिल ब्रह्माण्ड का अधिपति प्रकाश रूप में प्रकाश देवता सूर्य को समर्पित/निवेदित उक्त पवित्रतम ऋचा 'गायत्री-मन्त्र' में तीनों व्याहृतियों को छोड़कर गायत्री मन्त्र कुल 24 वर्णों का वैदिक छंद हैं। वैसे वैदिक ग्रन्थों में यत्र-तत्र सप्त व्याहृतियों की भी चर्चा आती है। लेकिन 'गायत्री-मन्त्र' में मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने तीन व्याहृतियों का ही प्रयोग किया है। 'गायत्री-मन्त्र' में तीनों व्याहृतियाँ निम्न हैं-- 'भूर्भुवः स्व:' = भू:+ भुव:+ स्व: (भूर् भुवर् स्वर्)-- विसर्ग संधि के 'ससजुषो रु:' सूत्र के अनुसार। व्याहृतियों से पूर्व 'ॐ'कार की ध्वनि ब्रह्माण्ड की पहली ध्वनि मानी जाती है। व्याहृतियों के अतिरिक्त शेष गायत्री-मन्त्र -- 'तत्सवितुर्वरेण्यं' = (तत्सवितु: + वरेण्यं) यहाँ भी सन्धि का 'ससजुषो रु:' सूत्र है।

'भर्गोदेवस्य' = (भर्ग:, भर्गस् + देवस्य) विसर्ग संधि के 'हशि च' सूत्र के नियमानुसार।

'धियो यो न:' = (धिय: + य:+ न:) नियम 'हशि च' ।

वैदिक देव मण्डल में द्यावापृथिवी के लिए 'भूर्भुव:' युग्म प्रसिद्ध है (द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वा:, श्रीमद्भगवद्गीता,11-20) ।

श्रीमद्भगवद्गीता में वासुदेव श्रीकृष्ण, अर्जुन से कहते हैं -- "वृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।" (10-35)

अर्थात् "हे पार्थ ! गायन करने योग्य सामवेद (श्रुतियों में) के गीतों में मैं वृहत्साम हूँ और समस्त छन्दों में गायत्री मैं ही हूँ।" सामवेद देवताओं द्वारा गाये जाने वाले गीतों का संग्रह है , इन गीतों में एक वृहत्साम है,जिसकी ध्वनि सर्वाधिक सुमधुर होती है,

जिसे अर्द्धरात्रि में गाया जाता है। ललित निबन्धकार कुबेरनाथ राय ने इस सम्बन्ध में एक जगह 'वृहत्' का अर्थ परमात्मा/विश्वात्मा बताया है। वैदिक ऋचाओं से लेकर आज तक के उच्च कोटि के ललित साहित्य को 'साम- सम्पृक्त' माना जाता है। वासुदेव श्रीकृष्ण ने कहा --"वेदानां सामवेदोऽस्मि"...।

सूर्य का मूल रूप है द्युु- मण्डल का सविता। यह सविता ही द्वितीय मण्डल अन्तरिक्ष में द्वादशादित्य और सोम बनकर अवतीर्ण है तथा पार्थिव-मण्डल में अग्नि बनकर। सविता का क्रियात्मक रूप 'साम' - भूर्भुव: स्व:' --- भू: (पहली व्याहृति) अर्थ है = पृथ्वी , धरती का प्रतिनिधित्व करने वाली सत्ता, यह भूलोक का वाची है।

भुव: (भुवर् भुवस् - दूसरी व्याहृति), तीनों लोकों में से दूसरा लोक, अन्तरिक्ष लोक, यह अन्तरिक्ष लोक का वाचक है। स्व: (स्वर् - तीसरी व्याहृति) = स्वर्गलोक, द्युलोक तक व्याप्त, मृत्यु के पश्चात् पुण्यात्माओं का अस्थायी आवास, ध्रुवतारे और सूर्य के बीच का रिक्त स्थान। यह स्वर्ग लोक का वाची है। बार-बार कहा जा रहा है कि ब्रह्माण्ड की प्रथम ध्वनि ॐ है। गायत्री-मन्त्र की शुरुआत 'ॐ भूर्भुवः स्व:' से होती है । इन तीनों व्याहृतियों का प्रयोग सदैव ॐ के पश्चात् ही होता है। भूर्भुवः स्व: अर्थात् भू: = पृथिवी, भुव: = अन्तरिक्ष और स्व: = जो इन दोनों के पार है ,जब ॐ के साथ इन तीनों शब्दों को एक साथ एक लय में हम उच्चरित करते हैं तो हम इन तीनों को एक कतार में लाकर और अपनी आत्मा को एक सीध में खड़ा कर रहे होते हैं। हमारे वैदिक -औपनिषदिक और बाद के ऋषियों -मुनियों-सन्तों ने अपनी कठोर साधना और तपश्चर्या के द्वारा यह किया है और जगत् में मानवता के लिए जो कुछ भी वरेण्य और सुन्दर है,उसी का प्रतिफलन है।

कूर्मपुराण में कहा गया है -- "ॐकारस्तत्परं ब्रह्म सावित्रस्यात्तदरम्।" अर्थात् ओंकार परब्रह्मस्वरूप है, गायत्री अविनाशी ब्रह्म है। शतपथ ब्राह्मण और ऐतरेय ब्राह्मण में तो यहाँ तक कहा गया है कि - "ब्रह्म गायत्रीति-ब्रह्म वै गायत्री।" ब्रह्म गायत्री है, गायत्री ही ब्रह्म है। 'भू:+भुव:+स्व:' यह तीनों व्याहृतियाँ , 24 अक्षर वाली गायत्री तथा चारों वेद निस्संदेह ओंकार (ब्रह्म) स्वरूप हैं --"भूर्भुवः स्वरित चैव चतुर्विंशत्यक्षरास्तथा।

गायत्री चतुरोवेदा ओंकार: सर्वमेव तु।।"

तीनों व्याहृतियों का प्रयोग देवाधिदेव-महादेव शिव को समर्पित दीर्घायुष्य और सर्वारिष्टनिवारणार्थ समर्पित 'महामृत्युञ्जय-मन्त्र' में भी अनिवार्य रूप से प्रयोग किया जाता है। वासुदेव श्रीकृष्ण ने समस्त रुद्रों में अपने को शिव माना है --"रुद्राणां शंकराश्चास्मि"।

पूरी प्रकृति त्रिगुणात्मिका है -सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण। गायत्री त्रिगुणात्मिका है। गायत्री-मन्त्र की साधना से इसका संतुलन बना रहता है। आद्य गुरु शंकराचार्य कहते हैं --"आत्म-प्राप्ति करने की दिव्य दृष्टि जिस बुद्धि से प्राप्त होती है। उसकी प्रेरणा गायत्री द्वारा प्राप्त होती है।

तपोनिष्ठ आचार्य पं. श्रीराम शर्मा 'गायत्री-मन्त्र' का ठोस अर्थ निम्न प्रकार से बताते हैं -- उस प्राणस्वरूप, दुःखनाशक, सुखस्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप परमात्मा को हम अन्तरात्मा में धारण करें। वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करे। जो श्रद्धा, नियम और संयम के साथ गायत्री- मन्त्र' का पुरश्चरण करता है,उसका जीवन, धर्ममय और कल्याणकारी बनता ही है और वह स्वर्ग तथा मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।

पंडित विद्यानिवास मिश्र निरन्तरता को ही संस्कृति मानते थे। वे कहते थे

***

"भारतीय संस्कृति के स्वरूप पर जब हम विचार करते हैं, तब बार-बार हमारी स्मृति में 'धर्म' शब्द आता है। धर्म सार्थक जीवन की विधि है। पुरुषार्थ साधन है और मनुष्य का शरीर इस धर्म का साधन है। शरीर ब्रह्माण्ड का ही एक प्रतिरूप है।"

*****

युग चेतना के परिष्कार में रामायण की उपादेयता

गीता रस्तोगी 'गीतांजलि'
पूर्व रसायन प्रवक्ता
गाजियाबाद

मानव जीवन की सार्थकता तथा श्रेष्ठ समाज के निर्माण हेतु जन-जन में सद्गुणों का समावेश होना अति आवश्यक है। मनुष्य का चित्तवृति में भ्रम के कारण उसके सद्गुणों का लोप हो जाता है।अतः सद्गुणों के प्रति उसकी सुग्राह्यता सामान्यतः: कम हो जाती है और व्यक्तित्व में सद्गुणों का समावेश भी न के बराबर ही हो पाता है। अतः यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम मानव जीवन का उद्देश्य स्पष्ट हो। तत्पश्चात उसकी प्राप्ति की ओर कदम बढ़ाया जाए।

मानव दैवीय और आसुरी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण है। यदि ये प्रवृत्तियां संतुलन में हों तब मानव एक सामान्य जीवन व्यतीत करता है। दैवीय प्रवृत्तियों केआधिक्य से वह महामानव हो जाता है जबकि इनका ह्रास होने से वह मानवोचित व्यवहार करने में भी असुविधा महसूस करता है।

सदुद्देश्य की पूर्ति हेतु भगवत्कृपा से साधन भी सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य में ऐसी अमूल्य धरोहरें हैं जिनके अध्ययन अधिगम द्वारा श्रेष्ठ मानव चरित्र के निर्माण सहज ही संभव है। समय-समय पर भगवान के अवतार भी श्रेष्ठ मानव चरित्रों का निर्वाह करते रहे हैं। त्रेता युग में अवतरित श्री राम का चरित्र अध्ययन हेतु रामायण के रूप में संग्रहित है। अनेक कलमकारों ने उनकी जीवन लीलाओं को भिन्न-भिन्न भाषाओं में संजोया है।

महर्षि वाल्मीकि ने वाल्मीकि रामायण, जिसे आदि काव्य भी कहा जाता है, की संस्कृत में रचना की। गोस्वामी तुलसीदास ने अवधी में श्रीरामचरितमानस रूपी तीर्थराज प्रयाग की रचना की है। वेदव्यास जी ने आध्यात्मिक रामायण की रचना की।कालिदास ने 'रघुवंश' को लिखा। इन राम कथाओं के अतिरिक्त इसे अन्य भारतीय भाषाओं में भी लिखा गया जैसे, तमिल, उड़िया, बांग्ला, गुजराती, मलयालम, कन्नड़, असमिया, उर्दू आदि। रामायण को थाई, कम्बोडियन, अरबी, फारसी आदि विदेशी भाषाओं में भी लिखा गया है।

रामायण में राम व उनके सहयोगी कार्यकर्ताओं द्वारा किए गए सत्कर्म व सद्व्यवहार का भाव भरा उल्लेख है। युगप्रवर्तक भगवान श्री राम स्वयं नीतिनिष्ठ हैं। वह अपने अनुयायियों में भी उसी स्तर के सद्गुण, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रयत्नों से उत्पन्न करते हुए न्यायनिष्ठ धर्मराज्य की स्थापना करते हैं।

वे युगांतरकारी सत्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करते हैं, मनुष्य के बीच चल रही विषमता को दूर करते हैं, श्रम और कर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाते हैं, मूढ़ताओं को निरस्त करते हैं व अनीति के विरुद्ध संघर्ष खड़ा करते हैं। ये समस्त प्रयास तत्कालीन अवांछनीयताओं को हटाकर उनके स्थान पर आदर्श समाज का ढांचा खड़ा करने के लिए हैं। भगवान राम की लीलाएं इन्हीं गतिविधियों से भरी हुई हैं।

उन्हें आदर्श समाज सुधारक एवं सफल युग निर्माता भी कह सकते हैं। भगवान के अवतार लेने का यही प्रयोजन भी है।

जब जबहोय धर्म की हानी।
बाढ़े असुर अधम अभिमानी।।
तब तबधरि प्रभु मनुज सरीरा।
हरहिंदयानिधि सज्जन पीरा।।

तुलसीदास जी ने राम जन्म के उद्देश्य के संबंध में यह भी कहा है-**जगविस्तारहिंविसदजन, राम जनम करहेतु।**

भगवान को यश की कामना नहीं है तब भी वे अवतार धारण कर इन चरित्रों का निर्वाह करते हैं। क्योंकि भगवान के भक्त इन्हें आदर्श मानकर अपने कर्तव्य निर्वाह हेतु इनसे प्रेरणा प्राप्त करते हैं- **विप्र धेनु सुर सन्त हित, लीन्ह मनुज अवतार।**

राम कुशल नीतिज्ञ हैं। वह नीति के साक्षात स्वरूप कहे जा सकते हैं। त्रेतायुग में राम अवतार के रूप में वह नीति निष्ठा की स्थापना के लिए आए और जीवनपर्यंत तदनुरूप आचरण करते हुए स्वयं को मर्यादापुरुषोत्तम के आदर्श रूप में प्रतिष्ठित किया। राम की इन्हीं विशेषताओं के कारण उन्हें भगवान कहा जाता है और उनके प्राकट्यको अवतार कहा जाता है। वाल्मीकि रामायण में उल्लेख है-

सत्यम्दानम्तपम् त्यागो मित्रता शौमार्जवम्।
विद्याच गुरु सुश्रूषाध्रुवाण्येतानिराघवे।।

"सत्य,तप, त्याग, मित्रता, पवित्रता, सरलता, विद्या और गुरु सेवा- ये सभी सद्गुण श्रीराम में स्थिर रूप से रहते हैं।"

राम की नीतिनिष्ठा के प्रति उनकी सतत चेष्टा का विवरण रामायण में कई स्थानों पर उपलब्ध है। एक उत्कृष्ट मानव समाज के निर्माण के लिए आवश्यक है कि सभी जन हृदय में परस्पर प्रेम, स्नेह, सौहार्द्र व सद्भावना रखें। गोस्वामी तुलसीदास जी ने उत्तरकांड में लिखा है-

राम करहिंभ्रातन्ह पर प्रीती।
नाना भांति सिखावहिंनीती।।
सब नरकरहिंपरसपरप्रीती।
चलहिं स्वधर्मनिरत श्रुति नीती।।

श्रीराम की नीतिनिष्ठा के विषय में वे कहते हैं-

देसुकालुलखि समय समाजू। नीति प्रीति पालक रघुराजू।।

साहित्य का अध्ययन हो या भक्ति, दोनों का मानव मन व व्यक्तित्व पर सकारात्मक प्रभाव पड़ने की प्रक्रिया पूर्णतया वैज्ञानिक है। हम अपने दिन के अधिकांश समय जिन चित्रों को देखते हैं तथा जिन चरित्रों का अध्ययन, चिंतन वमनन करते हैं और जिन से प्रभावित होते हैं, उनके गुण सहज ही हमारे व्यक्तित्व में समाहित होने लगते हैं। अतः एक श्रेष्ठ मानव समाज के निर्माण के लिए उच्च मानव मूल्यों वाले आदर्शों को अपने समक्ष रखने का विधान है। रामायण का अध्ययन इसी उद्देश्य की पूर्ति में सहयोग करता है। रामकथा में राम एक संपूर्ण व्यक्तित्व के रूप में प्रतिष्ठित हैं। वे अपने सभी दायित्वों का सर्वोत्तम रीति से निर्वाह करते हैं। वह एक कुशल नीतिज्ञ व श्रेष्ठ शासक भी हैं। रामराज्य में सुशासन काआदर्श प्रस्तुत किया गया है। रामराज्य में नागरिक भी कैसे धर्मनिष्ठ थे, इसकी एक झलक इस चौपाई में स्पष्टतया परिलक्षित होती है-

सब निर्दम्भधर्मरत गुनी।
नर अरुनारि चतुर सब गुनी।।
सब गुनन्य पंडित सब ज्ञानी।
सब कृतज्ञ नहिंकपट सयानी।।

इसके विपरीत रावण राज्य की एक झलक इन पंक्तियों में देखी जा सकती है-

बाढ़े खल बहुचोर जुआरा।

जे लंपट पर धन पर दारा।।

जहां अनीति का वातावरण हो और उसी को प्रोत्साहन दिया जाता हो, वहां विकृतियां ही बढ़ती हैं। यही अंतर है, रामराज्य व रावण राज्य में।

रामकथा के विवेकपूर्ण अध्ययन से श्रेष्ठ व अनुचित के मध्य अंतर करने की, नीरक्षीर विवेकी, हंस-सीप्रवृत्ति उत्पन्न होती है। यदि व्यक्ति के मन में संग के कुप्रभाव से, कोई कुत्सित विचार क्षण भर को उत्पन्न हो भी जाए, तब भी वह सद्बुद्धि द्वारा तुरंत ही निरस्त कर दिया जाता है व आचरण में नहीं लाया जाता।

जिस प्रकार बूंद-बूंद से सागर भरता है ठीक उसी प्रकार जन-जन से मिलकर सम्पूर्ण मानव समाज बनता है। सद्गुणों से युक्त जनों की संख्या बढ़ाने की दिशा में निरंतर सामूहिक प्रयासों की आवश्यकता होती है ताकि जन समुदाय से मानवीय कमजोरियां व अवगुण स्वत: ही विलीन होते चले जाएं। यथार्थ में अवगुणों का कोई अस्तित्व नहीं होता ये केवल सद्गुणों के अभाव में प्रकट होने वाले लक्षण हैं। यह ठीक उसी प्रकार है, जैसे किसी स्थान पर प्रकाश के अभाव से उत्पन्न स्थिति को अन्धकार कहा जाता है।

तुलसीदासजी ने भगवान राम के गुणों को स्मरण करके उनसे अपने जीवन को सम्पन्न और सार्थक बनाने का आग्रह किया है।

जग मंगल गुन ग्राम राम के।

दानिमुकुत धन धरमधाम के।।

"भगवान के गुण समूह संसार में सब प्रकार मंगल देने वाले हैं। उनसे मुक्ति, धन, धर्म और सद्गति प्राप्ति की राह प्रशस्त होती है।"

भगवान राम बलवान, तेजस्वी, बुद्धिमान, धर्मपरायण व सभी सद्गुणों से युक्त हैं। वाल्मीकि रामायण में मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम को सर्वगुण संपन्न कहा गया है। "संपूर्ण गुणों से युक्त श्री राम जी अपनी माता कौशल्या के आनंद को बढ़ाने वाले हैं। वे गंभीरता में समुद्र और धैर्य में हिमालय के समान हैं।"

स च सर्वगुणोपेत: कौशल्यानन्दवर्धन:।

समुद्र इवगाम्भीर्येधैर्येणहिमवानिव।।

महर्षि वाल्मीकि ने श्रीराम के लिए जिन गुणवाचक संबोधनों का प्रयोग किया है, वे श्रेष्ठ आध्यात्मिक व्यक्तित्व के परिचायक हैं–नियतात्मा अर्थात निर्विकार अथवा जिसका मन वश में है; महावीर्य अर्थात् शक्तिशाली; द्युतिमान अर्थात स्वाभाविक प्रकाश से युक्त, धृतिमान अर्थात् आनन्द गुणों से युक्त, वशी अर्थात् जितेन्द्रिय, बुद्धिमान अर्थात् सद्बुद्धि से सम्पन्न, नीतिज्ञ अर्थात् मर्यादावान व नीतियां, वाग्मी अर्थात् वाणी का श्रेष्ठ प्रयोग करने में कुशल, श्रीमान अर्थात विभूतिवान एवं शत्रुनिवर्हण अर्थात् मर्यादा का उल्लंघन करने वाले शत्रुओं का नाश करने में सक्षम।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'विनय पत्रिका' में श्री राम जी के शील स्वभाव को इस प्रकार वर्णित किया है-**"सुनिसीता पति सील सुभाऊ।"**

श्रीरामजी जिन गुणों के भंडार हैं, वे हैं– अक्रोध, सौहार्द्र, क्षमा, सहिष्णुता, औदार्य, कृतज्ञता, अदोषदर्शन, गुणग्राहकता, यशोलिप्सा में अनासक्ति तथा निरहंकारिता। वे अकारण क्रोध नहीं करते। उनके चेहरे पर सदात्रिभुवनमोहनी मुसकान देखी जाती है। वे खेल में जीतकर भी हार मान लेते हैं। वे अपनों की भूलों को विस्मृत कर तनिक भी अविनय पर पश्चात्ताप करते हैं। कैकेई के प्रति उनका औदार्य, हनुमानजी के प्रति कृतज्ञता, विभीषण के प्रति गुण-ग्राहकता आदि विलक्षण गुण श्लाघनीय व अनुकरणीय हैं।

इसी प्रकार तुलसीदास जी ने त्यागने योग्य अवगुणों के विषय में भी लिखा है-

बैर न बिग्रह आस न त्रासा ।

सुखमय ताहि सदा सब आसा ||

अनारम्भअनिकेत अमानी।

अनघ अशेष दक्ष विज्ञानी ॥

प्रीति सदा सज्जन संसर्गा।

तृणमूल विषय स्वर्ग सपवर्गा।।

भगत पक्ष दृढनहिंसठताई।

दुष्ट तक सब दूरिबठाई ।।

तुलसीदासजी ने आध्यात्मिक प्रगति हेतु प्रभु प्रिय बनना, उनके गुणों का अनुसरण करना, अनुशासन पालन करना और दुर्गुणों को त्यागने का श्रेष्ठ मार्ग बताया है।

त्याज्य अवगुण हैं- बैर, एषणा, तृष्णा, भीरु स्वभाव, लिप्सा, आलस्य, प्रभुता का अहंकार, भाव शून्य निष्ठुर मनःस्थिति, पाप कर्मों में अभिरुचि, आवेशग्रस्त उत्तेजित व क्रोधी प्रवृत्ति, अदूरदर्शिता, कुसंग, विषयासक्ति, प्रेम भावना का अभाव, अवांछनीय सम्भाषण, ईश्वर विमुखता, मद, मोह, कृपणता, लोभ आदि।

राम कर्त्तव्य के निर्वाह में तनिक भी देरी नहीं करते। जब उन्हें वन जाने का आदेश हुआ तब उन्होंने इसे पिता का आदेश मानकर शिरोधार्य किया। उनके मुख पर ग्लानि की एक रेखा तक नहीं देखी गई। वरन वे तुरन्त कर्त्तव्यपालन हेतु तत्पर हुए।

प्रसन्नतां या न गताभिषेकस्तथा,

नमम्ले वनवास दुःखतः।

मुखामम्बुजश्रीरघुनन्दनस्य,

मेसदास्तु सा मंजुल मंगल प्रदान।।

वर्तमान युग की युवा पीढ़ी के लिए यह एक उच्च आदर्श है जो उन्हें अवसाद में जाने से रोककर एक सार्थक जीवन जीने की सीख देता है। श्रीराम अपने दुःख से नहीं वरन दूसरों के कष्ट से दुखी होते हैं। हनुमानजी अशोक वाटिका में माता सीता से कहते हैं –

मातुकुसल प्रभु अनुज समेता।

तव दुख दुखीसुकृपानिकेता।।

"हे माता! प्रभु श्रीराम छोटे भाई सहित सकुशल हैं, पर वे आपके दुःख से दुःखी रहते हैं।"

भगवान सदा स्वयं को छोटा मानकर दूसरों को अधिक मान सम्मान देते हैं। वे परशुरामजी से कहते हैं –

राम मात्र लघु नाम हमारा।

परशु सहित बड़ नाम तुम्हारा।।

उनके चरित्र में विनम्रता व दृढ़ता का एक सुंदर समन्वय देखने को मिलता है।रामजी की भांति ही रामायण के अधिकांश कथापात्र अमूल्य मानवीय गुणों से युक्त हैं। लक्ष्मण अपने भ्रातृधर्म का समुचित निर्वाह करते हुए एक आदर्श भ्राता के चरित्र को जीते हैं। ये चारों भाई ही सांसारिक प्रलोभनों से मुक्त व उच्च मानव मूल्यों से युक्त आसनों पर सुशोभित हैं। राजमहल के सिंहासन का प्रलोभन उन्हें तनिक भी स्पर्श नहीं कर पाता। लक्ष्मण पूरे वनवास काल में स्वेच्छा से भ्राता राम का प्रतिछाया की भांति साथ देते हैं व सेवा सुश्रुषा करते हैं। राम भी अपने भाइयों पर अतिशय स्नेह रखते हैं।

राम करहिं भ्रातन्हपर प्रीती।

नाना भांति सिखावहिं नीती।।

सेवहिं सानुकूल सब भाई।

रामचरन रति अति अधिकाई।।

प्रभु मुख कमल विलोकित रहहीं।

कबहुं कृपाल हमहि कछु कहहीं।।

भरत को भी राज्य का लोभभ्राता के स्नेह से विलग नहीं कर सका था। वह तुरंत ही माताओं व भ्राता शत्रुघ्न के साथ भाई राम लक्ष्मण को लौटा लाने के लिए चित्रकूट पहुंच गए।

वर्तमान युग में पारिवारिक एकता का एक उत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत करते हैं, ये रामायण के चारों भ्राता- राम, लक्ष्मण, भरत व शत्रुघ्न। भरत राम के अयोध्या वापिस न लौटने की स्थिति में पूरे चौदह वर्ष तक तपस्वी का जीवन जीते हुए अयोध्या के केवल सेवक के रूप में राजकाज देखते हैं और सिंहासन को राम के धरोहर के रूप में रखते हैं।

भ्रातृप्रेम की भांति ही रामकथा आदर्श दांपत्य का उदाहरण भी प्रस्तुत करती है। सीताराम जी ऐसे अभिन्न भाव से जीवनयापन करते हैं, जैसे वाणी और अर्थ या जल और लहरें।

गिरा अरथ जल बीचि सम,कहियत भिन्न नभिन्न।

बन्दौसीताराम पद,जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न।।

पति-पत्नी के मध्य परस्पर प्रेम व आदर का एक आदर्श समन्वय होना आवश्यक है जो सीताराम जी में देखने को मिलता है।

कहेहु कृपालु भानुकुल नाथा।

परिहरि सोचु चलहु बनसाथा।।

माता सीता वर्तमान युग में नारियों के लिए भी आदर्श प्रस्तुत करती हैं। वे नतो ऐश्वर्यादि के प्रति आसक्त हैं, नहीपति की सेवा से विमुख। वे वनवास न होने पर भी पति संगवन-वन घूमने को तत्पर हैं। रामजी भी सीता के प्रति पूर्णतया आश्वस्त हैं और रावण द्वारा हरण कर लिए जाने के उपरांत भी उनको युद्ध करके सादर लौटा लाते हैं और कभी संदेह की दृष्टि से नहीं देखते। माता सीता कन्याओं वविवाहिताओं के लिए भी शील व संयम के आदर्श प्रस्तुत करती हैं। वह रावण से सदा तिनके की ओट लेकर ही दृढ़ स्वर में सीमित वार्तालाप करती हैं।

तृन धरि ओट कहत वैदेही।

सुमिरिअवधपति परम सनेही।।

पति से धोखा करने वाली स्त्री को मानसकार ने वैसे ही निकृष्ट कहा है, जैसे पर नारी सेवी पुरुष को कहा है। अनसूया जी कहती हैं-पति-पत्नी को अपना सर्वस्व सौंप देता है। अतः स्त्री को उसके प्रति कर्त्तव्यपरायण रहना चाहिए।

मातु पिता भ्राता हितकारी।

मित पद सब सुनु राजकुमारी।।

अमित दानि भरता वैदेही।

अधम सो नारि सो सेव नातेही।।

पति-पत्नी परस्पर अनन्य निष्ठा तथा कर्त्तव्य परायणता को अपनाकर जीवन की विषमताओं के साथ संतुलन बनाते हुए भी स्वर्गीय सुख का अनुभव कर सकते हैं। देवर और भाभी के संबंध भी पुत्र और माता जैसे पावन होने चाहिए। सीता व लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न ने ऐसे ही स्नेहपूर्ण भावना व शिष्टाचार के आदर्श प्रस्तुत किए हैं। चित्रकूट पहुंचने पर भरत व शत्रुघ्न अपनी भाभी सीता के चरणों पर सिर रखकर बार-बार प्रणाम करते हैं और वे उन्हें मातृवत्सल भाव से आशीष देकर पास बिठाती हैं।

सानुज भरत उमगि अनुरागा।

धरिसिर सिय पग पदम परागा।।

पुनि पुनि करत प्रनाम उठाए।

सिरकर कमल परसि बैठाए।।

सीता खोज के प्रकरण में जब सुग्रीव ने लक्ष्मण जी को, सीता जी द्वारा गिराए गए वस्त्राभूषण दिखाकर उन्हें पहचानने को कहा, तब लक्ष्मण जी बोले-मैं न तो उनके बाजूबंद को पहचानता हूं, न ही कुंडलों को। हां, उनके नुपूरो को अवश्य पहचानता हूं जिन्हें मैं नित्यप्रति चरण वंदना के समय देखा करता था। वाल्मीकि रामायण में कहा गया है-

नाहं जानामि केयूरे नाहंजानामि कुंडले।

नूपुरे त्वभि जानामि नित्यम्पादाभि वंदनात्।।

सानुज भरत उमगि अनुरागा।

धरिसिर सिय पग पदम परागा।।

पुनि पुनि करत प्रनाम उठाए।

सिरकर कमल परसि बैठाए।।

ससुराल पक्ष के लोगों के सामने आदर्श उपस्थित करते हुए दशरथ अपनी रानियां को ऐसी शिक्षा देते हैं कि वह नवागत लड़कियों (वधुओं) के प्रति स्नेह दुलार में कोई कमी ना रहने दें। जब वे चारों पुत्रों का विवाह करके नववधुओं सहित अयोध्या लौटते हैं तो उनकी सासों को उन्हें ऐसे यत्नपूर्वक संभाल कर रखने की सलाह देते हैं जैसे नेत्रों को पलकें रखती हैं।

वधू लरिकिनी पर घर आईं।

राखेउ नयन पलक की नाईं।।

पति के इन शब्दों को चरितार्थ करके दिखा दिया, माता कौशल्या ने; जो वन गमन के समय अपनी भावना ऐसे अभिव्यक्त करती हैं-

नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई।

राखेउं प्रान जानकिहिं नाईं।।

तुलसीदास जी कहते हैं कि सर्प मणि के बिना बहुत दुखी होता है इसलिए वह उसकी दिन रात रक्षा करता है; ठीक इसी प्रकार सासें अयोध्या के राजमहल में अपनी बहुओं की रक्षा करती हैं। सीता जी के वन गमन की जिद सेविह्वल हुई माता कौशल्या कहती हैं कि सीता अत्यंत कोमल हैं। उन्हें कभी कोई कष्ट न होने पावे। वे वन के कष्टों को कैसे सहन कर पाएंगी क्योंकि वह तो चकोरी और हंसिनी की तरह है। वह चंद्र की शीतलता और गंगा की धारा में खेलती हैं।

चंद किरन रस रसिक चकोरी।

रवि रुखनयन सकै किमजोरी।।

सुरसरि सुभग बनज बनचारी।

ढाबर जोग के हंस कुमारी।।

सीता जी भी स्वयं को अभागी बताती हैं कि वे माता समान सास की सेवा का अवसर गंवा बैठी। रामायण के अनुसार दामाद के लिए ससुर भी अपने सगे पिता की तरह ही पूज्य हैं। ससुर के लिए दामाद भी पुत्रतुल्य है। चित्रकूट में जनक जी के पहुंचने पर राम उन्हें गुरुजनों की श्रेणी में रखकर ही सम्मान देते हैं।

करिवरबिनय ससुर सनमाने।

पितुकौसिक वशिष्ठ सम जाने।।

बेटियों को भी ससुराल में स्वार्थी बनने की नहीं वरन आदर्श बनने की प्रेरणा दी जाती है; भले ही उन्हें इसके हित कुछ कष्ट उठाना पड़े या अभावग्रस्त रहना पड़े।

संतति के समुचित पालन पोषण हेतु भी माता कौशल्या ने आदर्श प्रस्तुत किया। शिष्टाचार का अभ्यास बचपन से ही कराने की शिक्षा, हमारे शास्त्र हमें देते हैं। जो मनुष्य अभिवादनशील है तथा नित्य वृद्धों के चरणों की सेवा-शुश्रूषाव उनकी आज्ञा पालन करता है, उसकी आयु, विद्या, यश, बल ये चारों चीजें बढ़ती हैं।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविन:।

चत्वारि तस्यवर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम्।

रामायण में भक्ति व सेवा के भी उच्च आदर्श प्रस्तुत किए गए हैं। **'भक्ति'** शब्द व्याकरण के अनुसार **'भज सेवायाम्'** से बना है। भक्त का मन प्रेम व सेवा भावना से परिपूर्ण होता है। वह अपने स्वामी से कुछ लेने को नहीं वरन अपनी सेवाएं देने हेतु तत्पर रहता है। ईश्वर भक्ति विश्व मानव की सेवा साधना के बिना सार्थक नहीं हो सकती। विश्व कल्याण के लिए ईश्वर भक्त को अधिकाधिक सेवापरक गतिविधियों में प्रवृत्त रहना पड़ता है। आध्यात्म मार्ग में आंतरिक परिष्कार के लिए काकभुशुण्डिजी ने ऐसी ही भक्ति का समर्थन किया है।

प्रेम भगति जल बिनु खगराई।

अभ्यंतर मल कबहुंन जाई।।

हनुमान जी श्री राम जी के अनन्य भक्त हैं। भगवान उन्हें भक्ति की महिमा बताते हुए कहते हैं- हे हनुमान!'यह जड़ चेतन सारा संसार भगवान का विराट स्वरूप है। मेरा कर्तव्य दूसरों की सेवा करना है, जिसकी ऐसी अविचल मति है, वही मेरा अनन्य भक्त है।

सो अनन्य जाकेअसमति न टरई हनुमन्त।

मैं सेवक सचराचररूप स्वामिभगवन्त।।

इस प्रकार राम कथा अमृत का रसपान करने वाले भक्त इसके आध्यात्मिक लाभ से कभी वंचित नहीं रह पाते। राम कथा का पठन-पाठन पूर्णतया वैज्ञानिक अवधारणा पर आधारित है। यह पाठक के मन व बुद्धि का परिष्कार करता है व अवगुणों को कम करते हुए सद्गुणों में अभिवृद्धि करता है। राम भक्ति से जुड़ा मन कभी किसी अधर्मसंगत कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता। भगवद्भक्तिव भक्ति साहित्य का अध्ययन, दोष भरी मानस स्थिति को निष्पाप बनाने की प्रेरणा देते हैं। यही वर्तमान युग के सभी मानस रोगों की औषधि भी है और इसे प्राणोपण से जन-जन द्वारा आत्मसात किए जाने की महती आवश्यकता है।

*****

भारतीय ज्ञान परंपरा एवं लोककथाएँ

डॉ. संध्या सिलावट
उपायुक्त (राज्य कर)
मध्य प्रदेश, इंदौर

भारत का प्राचीन नाम आर्यावर्त भी है। आर्यावर्त की सीमाएँ वर्तमान के भारत की तुलना में सुदूर तक फैली हुई थीं। भारत का ज्ञान तथा संस्कृति संसार की प्राचीनतम सभ्यताओं में अपना स्थान रखतीहै। परंपरा का शाब्दिक अर्थ है बिना रुकावट के श्रृंखलाबद्ध जारी रहना। भारतीय वह सब है जिसका संबंध भारत देश से है। ज्ञान से अभिप्राय है मानव जाति द्वारा अर्जित सत्य, सूचना और सिद्धांतों का समूह।

भारतीय ज्ञान परंपरा का आशय है ज्ञान की ऐसी प्रणाली जिसमें किसी विषय या उपविषय का ज्ञान अपरिवर्तित रूप में पीढ़ी दर पीढ़ी संचारित होता रहता है।

भारत की ज्ञान परंपरा वेद ग्रंथों के रचनाकाल से मानी जाती है, परंतु इसका मौखिक व श्रव्यरूप इससे बहुत वर्षों पूर्व से चला आ रहा होगा, ऐसा माना जा सकता है।

प्राचीन भारत समृद्ध था, समरस था। तब भारतीय ऋषिमुनियों ने सृष्टि के रहस्यों के बारे में जानने का प्रयास किया। जीवन व जगत के अनुभवों की तलाश में जुट गए। शास्त्रार्थ की तार्किकता के माध्यम से सत्य-असत्य और उपयोग-अनुपयोग की कसौटियों पर कसकर मानवहित में रचनात्मक अभिव्यक्ति दी। शास्त्रार्थ, भारतीय ज्ञान के तार्किक, तुलनात्मक, विश्लेषणात्मक व श्रेष्ठ शोधपरक दृष्टि का परिचायक है।

भारतीय ज्ञान परंपरा का वैदिक काल आधार भूत स्थल है। यह परंपरा ऋग्वेद में स्तुति, यजुर्वेद में कर्मकांड, सामवेद में संगीत तथा अथर्ववेद में लोकाचार के रूप में है। ब्राह्मणग्रन्थों में भारतीय ज्ञान परंपरा लोक तथा परलोक के संबंध के रूप में सुरक्षित हैं, उपनिषदों में ज्ञान की परंपरा के संवर्धन व संवहन की धारणा संरक्षित है। दर्शन-ग्रंथों में ज्ञान परंपरा के मानव उपयोगी स्वरूप को संरक्षित रखने का प्रयास है। लौकिक साहित्य वाल्मीकि कृतरामायण एवं कृष्ण द्वैपायन कृत महाभारतग्रंथ में भारतीय ज्ञान परंपरा का शाश्वत और सततप्रवाही रूप विद्यमान है।

महाभारतग्रंथ विश्व का सबसे विशालतम महाकाव्य होने के साथ ही संपूर्ण भारतीय ज्ञान परंपरा का सार-संग्रहग्रंथ भी है। इस ग्रंथ को पंचमवेद भी कहा जाता है। कहते हैं कि जो कुछ भारत में है, वह सब इसमें उपलब्ध है; और जो यहां नहीं है वह कहीं भी नहीं है। पुरुषार्थ चतुष्टय के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में जो कुछ महाभारत में कहा गया है, वही अन्यत्र है; जो इसमें नहीं है, वह अन्यत्र भी नहीं है-

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ।।
(महाभारत, आदिपर्व 62/53, स्वर्गा. 5।50)

संपूर्ण भारतीय परिवेश, भारतीय संस्कृति, भारतीय ज्ञान एवं विज्ञान की विशदपरंपरा, मानव मूल्य, सामाजिक वराष्ट्रीय चेतना, रीति-रिवाज, खान-पान, रहन-सहन, लोकाचार, धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अधिकार, नीति-अनीति, वैश्विक चिंतन आदि सभी तथा मानवीय संवेदनाओं का मनोवैज्ञानिक व

मनोविश्लेषणात्मक चिंतन इसमें है। यह संपूर्ण भारतीयता का साकार प्रतिरूप है।

संकट के समय कौन-सी नीति अपनानी चाहिए, यह महाभारतग्रंथ में पलित नामक चूहे की कथा से समझाया गया है।

वह चूहा था बुद्धिमान् और नीतिमान। उसने मन में सोचा कि इस समय किसी विलक्षण नीति द्वारा ही प्राण बचाए जा सकते हैं। हार मान लेना उचित नहीं, क्योंकि बुद्धिमान वनीतिशास्त्र में निपुण पुरुष विशाल और दारुण विपत्ति में पड़ने पर भी उस में डूबता नहीं -उससे बचने की ही चेष्टा करता है-

न हि बुद्धयान्वितः प्राज्ञो नीतिशास्त्रविशारदः।।
निमज्जत्यापदं प्राप्य महतों दारुणामपि।।
(महाभारत, शांतिपर्व 138/39-40)

इसी कथा में पहली नीति बताई है कि जब स्वयं पर और शत्रु पर एक-सी विपत्ति पड़ी हो, तब निर्बल को सबल शत्रु के साथ मेल करके बड़ी सावधानी और युक्ति से अपना काम निकाल लेना चाहिए, काम होने के पश्चात उस शत्रु पर विश्वास नहीं करना चाहिये-

अस्मिन्नर्थे च गाथे द्वे निबोधोशनसा कृते।
शत्रुसाधारणे कृत्ये कृत्वा संधिं बलीयसा ।।
समाहितश्चरेद् युक्त्या कृतार्थश्च न विश्वसेत्।
(महाभारत, शान्तिपर्व 138/193-194)

दूसरी नीति है- जो विश्वासपात्र न हो, उसपर विश्वास न करे तथा जो विश्वासपात्र हो, उस पर भी अधिक विश्वास न करे। सदा अपने प्रति दूसरों का विश्वास उत्पन्न करे, किंतु स्वयं दूसरों पर विश्वास न करे-

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।।
नित्यं विश्वासयेदन्यान् परेषां तु न विश्वसेत् ।
(महाभारत, शान्तिपर्व 138/194-195)

प्राचीन काल में जो अश्वमेध आदि बहुत दिनों तक चलने वाले यज्ञ होते थे, उन यज्ञों में अवकाश काल में बहुत-सी ऐतिहासिक गाथाएं या आख्यान कहने या पढ़ने की प्रथा थी। इन अवसरों पर पढ़े जाने वाले अनेक ऐतिहासिक आख्यानों को महाभारत ग्रंथ में संकलित किया गया है। इसी कारण महाभारत ग्रंथ के अंतर्गत असंख्य आख्यायिकाओं का संकलन है। इनके द्वारा भारतीय मूल्यों, भारतीय ज्ञान परंपरा के संवर्धन तथा संरक्षण की व्यापकता व व्यावहारिकता का पता चलता है।

अनेक संस्कृत कवियों ने इस महाग्रंथ में वर्णित उपाख्यानों को स्वतंत्र काव्य-कृतियों के रूप में रूपांतरित किया। महाकवि कालिदास तथा भास के लगभग सभी नाटकों का उपजीव्य ग्रंथ यही महाभारत ग्रंथ है। इस तथ्य का साक्षात्प्रमाण रघुवंशम्, कुमारसम्भवम्, नैषधीयचरितम् व अभिज्ञान शाकुन्तलम् आदिकृतियां हैं। रामायण एवं महाभारतग्रंथ में भूगोल, इतिहास, राजनीति और धर्म-अनुशासन का अच्छा संयोग है, सभी वर्णन मर्यादा के अनुसार है। भारतीय ज्ञान परंपरा वह है, जो ज्ञान से उत्पन्न, ज्ञान से पोषित तथा ज्ञान से ही संचालित होती है।

ऋषि और मुनियों ने केवल मंत्र ही नहीं रचें अपितु उन्होंने ज्ञान के उपदेशों से जनजन तक ज्ञान को प्रेषित किया है। भारतीय ज्ञान व्यावहारिक अनुभवों से उपजा है। हजारों-सैंकड़ों वर्षों के अनुभवों से निकाले गए निष्कर्षों को शास्त्रबद्ध किया गया। अनुभव सिद्ध परिणाम नीति अथवा आचार शास्त्र का नियम बनते हैं। इन्हीं से सूत्र या नियम बनते हैं। पुराणों, इतिहासों आदि में इन्हीं को सूत्र कथा के माध्यम से समझाया गया है। प्राचीन परम्परा का संकलन सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरितों द्वारा किया गया है। यह अत्यंत दीर्घ अवधि का सारांश है जिसमें असंख्य राष्ट्रों का जन्म, यौवन, प्रौढ़ता, बुढ़ापा और नाश होता रहा है।

उनके द्वारा रचे साहित्य से हमें विविध विषयों एवं कलाओं के मूल तथ्यों का ज्ञान उपलब्ध है, यह समस्त साहित्य संस्कृत में रचा गया है। भगवान बुद्ध और महावीर स्वामी व जैन आचार्यों नेपालि, अर्धमागधी आदि प्राकृत भाषाओं का आश्रय लिया और उनकी परंपरा आज भी चली आ रही है। वर्तमान में हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, बँगला, उड़िया, असमिया, मलयालम, कन्नड़ एवं तेलुगु आदि भाषाएँ प्रचलित हैं, जिनमें संत, महात्मा तथा समाज सुधारकों ने उपदेश व सदाचार की शिक्षाएँ देकर परंपरा को बनाए रखा है।

लोक-साहित्य आदि मानव के मस्तिष्क की सीधी तथा सच्ची अभिव्यक्ति है यही लोकवार्ता है। लोक-साहित्य लोक समूह द्वारा स्वीकृत व्यक्ति की परंपरागत क्रम से प्राप्त वह वाणी है, जिसमें लोक मानस संगृहीत रहता है।

लोक-साहित्य का प्रथम तत्त्व, इसमें प्राचीन संस्कृतियों के अवशेषों का होना है। इसी 'संस्कृति' शब्द के लिए डॉ.सत्येन्द्र ने 'मानस' शब्द का प्रयोग किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से 'आदिमानव' में जो गुण-धर्म एवं विशेषताएँ होंगी, उसका प्रतीक यह शब्द है। ये आदि मजातियों में प्रत्यक्षतः होते होंगे किन्तु अप्रत्यक्ष रूप में अत्यन्त सभ्य समझी जाने वाली जातियों में भी होते हैं। इसी आदि मानस से लोक वार्ता एवं लोक-साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

भाषा के माध्यम से लोक की अनुभूतियों, भावों, कल्पनाओं, तर्कहीन विचारों की सामूहिक अभिव्यक्ति लोक-साहित्य में होती है। लोक-साहित्य और शिष्ट साहित्य में यही प्रबल अन्तर है। शिष्ट साहित्य वैयक्तिक अनुभूतियों, विचारों, भावों, तर्कों और कल्पनाओं से प्रसूत होता है किन्तु लोक साहित्य में इसके विपरीत लक्षण होते हैं। इन दोनों को उत्पन्न करने वाले 'मानसों' में भी काफी अन्तर होता है, जो दोनों ही प्रकार के साहित्यकारों द्वारा चाहते हुए भी तिरोहित नहीं किया जा सकता।

लोक-कथा शब्द 'लोक' और 'कथा' इन दो शब्दों से व्युत्पन्न है, जिसका सामान्य अर्थ है-अतीत काल से ही मौखिक परम्परा से चली आने वाली कथा यें, जिनमें मानव के सुख-दुःख, सांस्कृतिक परिवेश, आस्थायें एवं विश्वास, भली भाँति चित्रित रहते हैं। डॉ.कुन्दनलाल 'उप्रेती' का विचार है कि, "वास्तव में कथा की ऐसी मौलिक परंपरा है, जिसमें लोक मानस के तत्त्वविशेष रूप से विद्यमान हों और जिनका उद्देश्य जन मनोरंजन के अतिरिक्त प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से ज्ञान वर्द्धन भी हो, वही लोक-कथा कहलायी जायेगी।"

लोककथाओं की उत्पत्ति का अनुमान लगाना इतना ही कठिन कार्य है, जितना यह जानने का प्रयास करना कि सृष्टि कब उत्पन्न हुई? अत एव यह कहना उचित है कि लोककथा की परंपरा अत्यन्त प्राचीन है। विश्व के सर्वप्राचीन साहित्य ऋग्वेद में ये कथाएँ अपने पूर्ण विकसित रूप में दृष्टिगत होती हैं, जिससे यह अनुमान सहज ही लगता है कि लोककथा की उत्पत्ति इससे भी पूर्व हुई होगी। इससे पूर्व का कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है। अत एव इस विषय में सप्रमाण तो कुछ नहीं कह सकते, किन्तु यह अनुमान सहज ही कर सकते हैं कि ऋग्वेद में वे जिस रूप में दृष्टिगत हैं उससे विदित होता है कि एक सुदीर्घ काल से लोक-कथाओं की परम्परा अनवरत चली आ रही है।

ऋग्वेद मुख्य रूप से दैवी स्तुति परक है, तब भी ऋषियों की आर्ष वाणी में अनेक कथाओं का भी सूत्ररूप में समावेश हुआ है, ये लोक-व्यवहार सम्बन्धी ज्ञान के साथ ही पारमार्थिक उन्नति का मार्ग भी दिखाती हैं। द्याद्विवेद नाम के आचार्य ने ऋग्वेद से नीति-कथाओं का संग्रहकर 'नीतिमंजरी' नाम से एक ग्रंथ तैयार किया था। इसके प्रारम्भ में ही उन्होंने लिखा था कि - **एवं कर्तव्यमेवं न कर्तव्यमित्यात्मको यो**

धर्मः सा नीतिः।' अर्थात् यह करणीय है और यह अकरणीय है- जो ऐसा बतलाए, वही धर्म है, यही नीति है। ऋग्वेद की शिक्षाप्रद कथा जो नीतिमंजरी में वर्णित है देखिए-परनिन्दा कभी न करे

त्वं वलस्य गोमतो ऽपावरद्रिवो बिलम्। त्वां देवा अविभ्युषस् तुज्यमानास आविषुः ।। (1/11/5)

यदि परनिन्दा में आनन्द आने लगे तो मानना चाहिए कि इहलोक तो बिगड़ ही गया, परलोक भी बिगाड़ लिया। इसीलिये निन्दा कर्म अत्यन्त ही निकृष्ट कर्म है, दूसरे की निन्दा करना मृत्यु को वरण करने के समान है। निन्दा करने वाले के स्वभाव में अन्य सभी दोष स्वतः आ जाते हैं और वह चोरी, हिंसा, अनीति आदि सभी दुष्कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है। ऋग्वेद हमें सिखाता है कि कभी भी किसी की स्वल्प भी निन्दा न करे। इसे बल नामक एक असुर के माध्यम से ऋग्वेद में समझाया गया है कि परनिंदा की आदत के कारण उसे अपनी जान से हाथ धोना पड़ा।

लोक-कथाओं की ब्राह्मणग्रन्थों में भी उपस्थिति देखी जा सकती है। शतपथब्राह्मण में 'पुरुरवा-उर्वशी' कथा, दधीचि ऋषि आदि के अनेक उपाख्यान, तांड्य-ब्राह्मण में च्यवन-भार्गव और सुकन्या या मानवी की कथा, ऐतरेय ब्राह्मण में शुनःशेप की कथा वर्णितहैं। उपनिषदों में भी इस प्रकार की कथाएँ उपलब्ध हैं, कठोपनिषद् में तो 'नचिकेतोपाख्यान' प्रधान-वर्ण्य-विषय ही है। केनोपनिषद्में भी 'अग्नि और यक्ष' की कथाओं का वर्णन हुआ है। इसी प्रकार स्मृतिग्रन्थों में भी अनेक आख्यान मिलते हैं। पौराणिक साहित्य को कथाओं और आख्यानों का विशाल भण्डार कहा ही जाता है।

संस्कृत साहित्य में 'बृहत्कथा' लोककथाओं के संग्रह का सर्वप्रथम प्रयास है, यह विद्वान ब्राह्मण गुणाढ्य द्वारा रचित है। 'बृहत्कथा' पैशाची भाषा में लिखा गया था, किन्तु अब अनुपलब्ध है। 'बृहत्कथा' के तीन अनुवाद संस्कृत में मिलते हैं। बृहत्कथा-श्लोक-संग्रह, बृहत्कथा-मंजरी एवं कथा सरित्सागर। लोककथाओं के क्षेत्र में 'पंच-तंत्र' संस्कृत साहित्य की उल्लेखनीय रचना है, जो विश्व की अनेक समृद्ध भाषाओं में अनुदित की जा चुकी है। 'हितोपदेश' का नाम नीति संबंधी कथाओं में लिया जाता है, नीति-संबंधी लोक कथाएँ इसमें अत्यन्त रोचक भाषाशैली में वर्णित हैं। शिवदासनाम कवि द्वानने 'वैतालपंचविंशति' में सरल संस्कृत में 25 लोककथाओं का संकलन किया है। 'वैताल-पच्चीसी' के नाम से इसे हिन्दी में भी अनूदित किया जा चुका है। 'सिंहासनद्वात्रिंशिका, विक्रमचरित' संस्कृत साहित्य में उल्लेखनीय लोक कथा संग्रह है,जो हिन्दी में 'सिंहासन बत्तीसी' के नाम से अनूदित है। संस्कृत साहित्य में 'शुकसप्तति' (तोता-मैना की सत्तर कथाएं) कथा संग्रह प्रसिद्ध है। जातक कथाओं द्वारा भगवान बुद्ध ने लोक-ज्ञान की उत्तम शिक्षाएँ दी हैं।

विद्यापति 'मैथिल कोकिल' ने 44 कहानियों वाला 'पुरुष परीक्षा' नामक ग्रंथ रचा। इसमें कुछ कथाएँ ऐतिहासिक, कुछ आनुश्रुतिक व कुछ सामयिक घटनाओं पर आश्रित हैं। इसमें चाणक्य, चन्द्रगुप्त, शकटार, राक्षस, विक्रमादित्य, भोज, लक्ष्मणसेन, नरसिंह इत्यादि राजपुरुषों, शबरस्वामी, वराहमिहिर, विशाखदत्त, श्रीहर्ष, कोक, चण्डेश्वर विद्वज्जनों तथा बोधिदास, कृष्णचैतन्य आदि गृहस्थ संतों की कथाएँ आयी हैं। भारत के विभिन्न भागों से सम्बद्ध कथाओं के कारण इसका भौगोलिक परिवेश भी विस्तृत है, जिनमें मिथिला से 8, बंगाल से 6, पाटलिपुत्र से 3, धारानगरी से 3, दिल्ली से 2, गोरखपुर से 2 एवं शेष 14 कथाएँ द्वारका, वाराणसी,मथुरा, अयोध्या, कांची, कौशाम्बी, मेवाड़-आदि विभिन्न स्थानों से सम्बद्ध हैं। सभी कथाएँ रोचक, बुद्धिचातुर्यपूर्ण तथा लोकस्वभाव की परिचायक हैं। इस ग्रन्थ से लोक-व्यवहार का सम्यक् ज्ञान होता है तथा अन्य कई लोकरीति-नीति का ज्ञान हो जाता है।

लोककथाओं में मानव के मनोभावों सुख-दुःख, आशा-निराशा, काम, क्रोध, ईर्ष्या एवं आकांक्षा की अभिव्यक्ति होती है। मनोभावों को सही दिशा की ओर मोड़कर मानव के साथ-साथ विश्व का कल्याण हो, यही इनका उद्देश्य है। जीवन के उतार-चढ़ाव का सामना करते हुए, पात्र जीवन में आशापूर्ण तरीके से आगे बढ़ते रहते हैं। बुरे कर्म न करें और सद्मार्ग पर चले, सरल उदाहरणों से समझते हैं। पूरे विश्व में प्रचलित लोककथाओं में स्थान विशेष की संस्कृति परोक्ष रूप से विद्यमान रहती है।

विद्वानों ने लोककथाओं को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया है-

धार्मिक कृत्यों के अवसरों पर, त्यौहार तथा व्रत आदि के अवसरों पर कही जानी वाली कथाएँ अनुष्ठानिक कथा वर्ग में आती हैं। इनमें धार्मिक भावनाओं और लोक-संबंधों का अतिसहृदय संबंध मिलता है। इनमें विभिन्न देवी-देवताओं व उनके द्वारा व्यक्ति विशेष अथवा मानव जाति को उपकृत किये जाने की कथा होती है। लगभग इन सभी कथाओं का संबंध स्त्रियों से होता है। स्त्रियों के लिए इन कथाओं का अत्यधिक महत्व हैं, वे मानती हैं कि अनुष्ठान अथवा व्रत के समय यदि ये कथाएँ नहीं बॉंची गईं तो उनकी पूजा ही अधूरी रह जाएगी। इस वर्ग में सन्तोषी माता की कथा, सत्यनारायण व्रतकथा एवं करुवाचौथ, अहोई अष्टमी, भैयादूज व अनन्त-चौदस आदि की कथाएँ आती हैं।

मानव-जीवन में नीति का महत्वपूर्ण स्थान है, नीति और शिक्षा के बिना मनुष्य अपने लक्ष्य की ओर नहीं बढ़ सकता। पंचतंत्र, हितोपदेश तथा पालि जातक कथाएँ इसी वर्ग में आती हैं। इनमें अधिकांशतः पशु-पक्षी आदि ही पात्र मिलते हैं, मनुष्यों को भी पात्र बनाया जा सकता है। बया और बन्दर की कथा में स्पष्ट है कि नीति की शिक्षा भी योग्य को देनी चाहिए-

सिक्षाव कूदजिये,जाकूसीखसुहाय।
शिक्षादयीबानरा, घरबयाकाजाय।

वर्तमान में यह अति आवश्यक है कि भारतीय ज्ञान परंपरा की इस जीवंतथाती लोककथा जो मनोरंजन के साथ ही नीति की शिक्षा, संकट में धैर्य, उत्साह के साथ आगे बढ़ने की प्रेरणा, आशावादी दृष्टिकोण और जीवन जीने का तरीका सिखाती है उसकी अस्मिता को बचाएँ और लिपि बद्धकर इसे संरक्षित करें, नहीं तो यह धरोहर कहीं सदा-सदा के लिए मिट न जाए।

*****

सनातनी प्रणाम पद्धति की सामाजिक प्रासंगिकता

शिवकुमार बिलगरामी
वरिष्ठ साहित्यकार एवं
पूर्व संयुक्त निदेशक, लोकसभा

अभिवादन किसी भी सभ्यता की आत्मा का प्रथम परिचय है। यह दो व्यक्तियों के बीच सेतु का कार्य करता है। जिस प्रकार भाषा किसी संस्कृति का व्याकरण होती है उसी प्रकार अभिवादन उसकी संवेदना का व्याकरण है। यह केवल कुछ शब्दों अथवा हाव-भाव की औपचारिकता का आदान-प्रदान नहीं अपितु यह समाज की मूल्य व्यवस्था के साथ साथ समाज की नैतिक और परस्पर संबंधों की समझ का संकेतक है। विश्व की सभी सभ्यताओं में अभिवादन की अपनी दीर्घकालिक परम्पराएं हैं। पाश्चात्य समाज में दो व्यक्ति हैंडशेक करके या फिर हेलो- हाय, गुड मॉर्निंग अथवा गुड इवनिंग बोलकर उनका अभिवादन करते हैं। कुछ देशों में हाथ हिलाकर (वेविंग) अथवा सर झुका कर (नोडिंग) भी अभिवादन की परंपरा है।

इसी तरह इस्लामी सभ्यता में भी सलाम (अस्सलामु अलैकुम बोलकर), मुसाफ़हा (समान लिंग के व्यक्तियों द्वारा हाथ मिलाना), मुआनक़ा (आलिंगन) तथा सीने पर हाथ रख कर अथवा सिर झुकाकर सलाम बोलने जैसी अभिवादन की विभिन्न रीतियां प्रचलन में हैं। अभिवादन की उपरोक्त सभी रीतियां मुख्यतः आपसी प्रेम और भाईचारा पर आधारित हैं। इनमें एक तरह का समानता का भाव प्रदर्शित होता है। विश्व की अन्य सभ्यताओं के इतर भारतीय सभ्यता में अभिवादन की समृद्ध परंपरा रही है। भारतीय उपमहाद्वीप की प्रत्येक भाषाई संस्कृति में अलग-अलग शब्दों, क्रियाओं और हाव-भावों के साथ अभिवादन करने की रीति का प्रचलन है लेकिन इन सब में वैदिक काल से चली आ रही अभिवादन की रीतियों का कुछ न कुछ पुट मिलता है। वैदिक काल में शिक्षा केन्द्रों के रूप में जब ऋषि परंपरा के अंतर्गत आश्रमों और गुरुकुलों का संचालन होता था तब आश्रम अथवा गुरुकुल में प्रवेश लेने वाले वटुक शिष्य को सबसे पहले प्रणाम करने अथवा अभिवादन करने की बाकायदा शिक्षा दी जाती थी। संभवतः भारतीय संस्कृति विश्व की ऐसी पहली संस्कृति थी जिसमें अभिवादन के महत्व को इतनी गहराई से समझा गया था। अभिवादन के महत्व के अनुरूप ही प्रणाम करने की विधियों का आविष्कार हुआ था। प्रणाम करने की प्रमुख विधियां इस प्रकार थीं - प्रणाम अथवा साधारण प्रणाम, पंचांग प्रणाम, साष्टांग/अष्टांग प्रणाम और दंडवत प्रणाम। भारतीय परंपरा में प्रणाम को केवल अभिवादन के रूप में नहीं अपितु श्रद्धा, विनय और आत्मसमर्पण के अत्यंत उदात्त भाव के रूप में अपनाया गया है। वयोवृद्ध, पदवृद्ध और ज्ञानवृद्ध सबके लिए प्रणाम की अलग-अलग रीतियों को अपनाया गया है। वयोवृद्ध लोगों के लिए सामान्य रूप से हाथ जोड़कर विनम्रता पूर्वक सिर झुकाकर प्रणाम करने की रीति रही है।

इसी तरह माता-पिता, गुरू, राजा और देवता को पंचांग प्रणाम का विधान बताया गया है। पंचांग प्रणाम का अर्थ है शरीर के पांचो अंगों - दोनों घुटने, दोनों हाथों की कोहनी तथा सिर या मस्तक को भूमि से स्पर्श करते हुए प्रणाम करना। इसी तरह साष्टांग प्रणाम या अष्टांग प्रणाम में दोनों हाथ, दोनों पैर, दोनों घुटने, छाती और मस्तक भूमि को स्पर्श करते हैं। यह प्रणाम अत्यंत श्रद्धा और भक्ति का सूचक है। आमतौर पर इस तरह का प्रणाम मंदिरों में देव मूर्तियों अथवा विशेष पूजा अनुष्ठानों में करने की परंपरा रही है। इन सबसे अलग प्रणाम की एक और विधि है- इसे दंडवत प्रणाम कहते हैं। दंड का अर्थ है सीधी खड़ी लकड़ी। जिस तरह कोई सीधी खड़ी लकड़ी अथवा दंड को छोड़ दिया जाए तो वह भूमि पर एकदम सीधा गिरता है। इसी तरह दंडवत प्रणाम करने वाला व्यक्ति भी जिसको दंडवत प्रणाम करता है उसके सामने दोनों हाथों को लम्बवत् आगे कर सीधा भूमि पर लेट जाता है। इस तरह का प्रणाम पूर्ण रूपेण आत्मसमर्पण की ओर इंगित करता है। यह प्रणाम

विगत में मुख्यतः वैष्णव संप्रदाय की परंपरा के रूप में प्रचलित रहा है और वैष्णव भक्त अपने आराध्य के समक्ष इसी तरह दंडवत प्रणाम करते रहे हैं। अत्यधिक प्रगाढ़ श्रद्धा भाव के अनुरूप यह प्रणाम अपने गुरुजनों और अन्य वरिष्ठ जनों को भी किया जाता है।

भारतीय संस्कृति में 'प्रणाम' केवल अभिवादन की औपचारिक क्रिया नहीं अपितु एक ऐसी जीवन-दृष्टि है जो व्यक्ति को व्यक्ति से, पीढ़ी को पीढ़ी से और समाज को उसके मूल्यों से जोड़ती है। प्रणाम का अर्थ है-अपने अहं का क्षय कर दूसरे के अस्तित्व, अनुभव और गरिमा को स्वीकार करना। आधुनिकता, तकनीक और तेज़ जीवन-गति के इस युग में जब मानवीय संवेदनाएँ लुप्त होती जा रही हैं, तब प्रणाम की सामाजिक प्रासंगिकता और अधिक बढ़ जाती है। प्रणाम के अनेक रूप यह बताते हैं अभिवादन इस बात का प्रतीक है कि सम्मान केवल शब्दों से नहीं, बल्कि देह, मन और भाव-तीनों के समर्पण से प्रकट होता है। 'अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः' जैसी सूक्तियाँ बताती हैं कि प्रणाम व्यक्ति के चारित्रिक विकास, विनय और सामाजिक संतुलन का आधार है। यह संस्कार व्यक्ति को नम्र बनाता है और समाज को सुसंस्कृत।

आधुनिक समाज में संबंधों की संरचना बदली है। संयुक्त परिवारों का स्थान एकल परिवारों ने ले लिया है, औपचारिकता बढ़ी है और संवाद में आत्मीयता घटती जा रही है। समाज उपलब्धियों, पद, प्रतिष्ठा और उपभोग की संस्कृति से संचालित हो रहा है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति स्वयं को केंद्र में रखकर देखने लगा है। ऐसे वातावरण में प्रणाम अहंकार-विसर्जन का एक सहज और प्रभावी सामाजिक अभ्यास बन सकता है। जब कोई व्यक्ति गुरु, माता-पिता, वरिष्ठजन या किसी आदर्श के समक्ष प्रणाम करता है, तो वह अनजाने ही यह स्वीकार करता है कि उसका जीवन केवल व्यक्तिगत श्रम का परिणाम नहीं, बल्कि संस्कार, परंपरा और समाज की संयुक्त देन है। यह भाव व्यक्ति के भीतर संतुलन, कृतज्ञता और मानसिक विनम्रता को जन्म देता है। प्रणाम जैसी परंपराएँ केवल धार्मिक कर्मकांड नहीं, बल्कि सामाजिक संवाद की सहज भाषा बन सकती हैं। जब एक युवा किसी वरिष्ठ को प्रणाम करता है, तो वह केवल आयु का नहीं, अनुभव और ज्ञान का सम्मान करता है। वहीं वरिष्ठ के मन में भी अपनत्व और उत्तरदायित्व का भाव जागृत होता है। इस प्रकार प्रणाम पीढ़ियों के बीच सेतु का कार्य करता है। वैश्वीकरण और पाश्चात्य प्रभाव के कारण हमारे यहां भी अभिवादन की शैली में परिवर्तन स्वाभाविक है-हैंडशेक, स्माइल या 'हाय-हैलो' का प्रचलन बढ़ा है। किंतु प्रणाम की विशेषता यह है कि इसमें शारीरिक रूप से किसी संपर्क की अनिवार्यता नहीं, फिर भी भावनात्मक निकटता प्रबल होती है। महामारी जैसे वैश्विक संकटों ने भी यह सिद्ध किया कि भारतीय अभिवादन पद्धतियाँ स्वास्थ्य, शालीनता और संवेदना-तीनों की दृष्टि से अधिक उपयुक्त हैं।

सामाजिक समरसता की दृष्टि से भी प्रणाम का महत्त्व उल्लेखनीय है। यह जाति, वर्ग और पद की सीमाओं को लांघकर मानवीय समानता का बोध कराता है। जब एक व्यक्ति दूसरे को झुककर प्रणाम करता है, तो वह अपने भीतर के अहंकार को भी प्रणाम करता है। यही भाव सामाजिक टकराव को कम कर सौहार्द को बढ़ाता है।

निष्कर्षतः आधुनिक समाज में प्रणाम कोई अप्रासंगिक परंपरा नहीं, बल्कि एक जीवंत सांस्कृतिक मूल्य है। आवश्यकता इस बात की है कि हम इसे रूढ़ि नहीं, बल्कि संवेदना और संवाद के सशक्त माध्यम के रूप में समझें और अपनाएँ। तकनीक से भरे इस युग में यदि मनुष्य मनुष्य को देखकर झुकना सीख ले, तो समाज अधिक मानवीय, अधिक संतुलित और अधिक संस्कारित बन सकता है। यही प्रणाम की कालजयी सामाजिक प्रासंगिकता है। भारतीय सभ्यता में प्रणाम केवल शिष्टाचार या अभिवादन की औपचारिक क्रिया नहीं है, बल्कि यह विनय, श्रद्धा और आत्मानुशासन का सजीव संस्कार है। यह वह मौन भाषा है, जिसमें शब्दों से अधिक भाव बोलते हैं। बदलते समय, वैश्वीकरण और तेज़ होती जीवन-गति के बीच आज यह प्रश्न बार-बार उठता है कि पंचांग, साष्टांग, अष्टांग अथवा दंडवत प्रणाम जैसी परंपराओं की आधुनिक समाज में क्या भूमिका रह गई है। वस्तुतः यदि गहराई से विचार किया जाए, तो आज के समय में प्रणाम की सामाजिक प्रासंगिकता पहले से कहीं अधिक स्पष्ट होकर सामने आती है।

*****

राजस्थान का प्रसिद्ध त्योहार गणगौर

डॉ. सुष्मिता बोहरा
संपादक
राज्य सभा सचिवालय
भारतीय संसद

मानव सभ्यता और संस्कृति का उद्भव उसकी सृजनात्मक और कल्पनात्मक प्रकृति से हुआ है। अपनी सृजन और कल्पना शक्ति से उसने युगों युगों पुरानी आस्था, परम्परा और संस्कृति को आगे आने वाली पीढ़ियों को सौंपा है और इसी तरह से युगों पुरानी परम्पराएँ जीवन्त बनी हुई हैं। मनुष्य द्वारा मनाए जाने वाले विभिन्न त्यौहार और रीति- रिवाज भी इसका परिचायक हैं और मनुष्य की आध्यात्मिक निष्ठा और सामाजिक जागृति के द्योतक हैं।

गणगौर: एक परिचय

भारत के पश्चिम और मध्य भागों में अपनी अनूठी पहचान रखने वाला गणगौर का त्यौहार राजस्थान, हरियाणा, मध्यप्रदेश सहित भारत के कई राज्यों में मनाया जाता है। यह स्त्री प्रधान त्यौहारों में से एक है इसलिए अपना विशेष महत्व रखता है। अविवाहित लड़कियों द्वारा योग्य वर की कामना के साथ गणगौर पूजन बढ़ चढ़ कर किया जाता है परन्तु सुहागिनों के लिए इस त्यौहार का अलग ही महत्व है। गणगौर को सुहाग पर्व के रूप में भी जाना जाता है। गण अर्थात शिव और गौर अर्थात गौरी यानि कि पार्वती। इस प्रकार गणगौर शिव-पार्वती के वैवाहिक स्वरूप या संयुक्त स्वरूप की आराधना का पर्व है। मान्यता है कि विवाह पश्चात गौरी 15 दिन अपने पिता के घर रहने आ गई थी और आठ दिन बाद यानि शीतलाष्टमी को शिव (ईश्वर) उन्हें लेने आए और कुछ दिन वहाँ वास किया और सोलहवें दिन वे ईश्वर (ईसर) के साथ पिता के घर से वे विदा हुईं। बड़े लाड़-प्यार, सम्मान और भारी मन से उन्हें विदा किया गया था। इसी पौराणिक कथा के अनुसार 16 दिन के इस त्यौहार में गौरी को अपने पीहर आया हुआ माना जाता है। ईसर की दामाद की भांति ही मनुहार और सम्मान किया जाता है। गणगौर पूजन और गीतों में शिव-पार्वती के दैवीय स्वरूप का मानवीयकरण इतना सहज रूप से किया गया है कि सम्पूर्ण विधि में पूजने वाले उन्हें अपने साथ ही महसूस करते हैं। अपने हाथों से मिट्टी या लकड़ी के भगवान के मूर्त रूप बनाकर, अपने मनपसन्द तरीके से उन्हें सजाकर, अपने साथ रखा जाता है। 16 दिन का यह पूजन पूर्ण रूप से भगवान का सानिध्य प्राप्त करने का है। ऐसा लगता है मानो भगवान भी इस त्यौहार का भरपूर आनन्द ले रहे हैं।

विवाहिताएं भी परम्परागत रूप से अपने पिता के घर आकर ही ये त्यौहार मनाती हैं। गौरी की तरह ही विवाह के तुरंत बाद आने वाले प्रथम गणगौर के त्यौहार का विशेष महत्व माना जाता है। जिस भी विवाहिता के विवाह के बाद पहला गणगौर का त्यौहार आता है उसका पीहर में विशेष स्वागत, और लाड़-प्यार किया जाता है। आस –पास की कन्याएँ और महिलाएँ उसकी पूजा अर्चना में शामिल होकर उसके पहले गणगौर के त्यौहार को विशेष बनाती हैं। 16 दिन के त्यौहार के बाद उसे खास सम्मान, गणगौर के उपहार और सुहाग की वस्तुएँ भेंट कर विदा किया जाता है। परम्परा रही है कि कुछ वर्षों तक 16 दिन के त्यौहार को विधि- विधान से मनाने के बाद इसका उद्यापन भी किया जाता है और इस तरह से यह त्यौहार अपना एक विशेष धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्वरूप रखता है।

गणगौर पूजन : परम्परागत स्वरूप

राजस्थान के इतिहास में सभी रियासतों में गणगौर के त्यौहार का वर्णन मिलता है। राजपूताने में, गणगौर किसी भी रियासत की समृद्ध संस्कृति और गर्व का प्रतीक थी। हर रियासत 16 दिन तक गणगौर का त्यौहार मनाकर उसके विसर्जन की सवारी निकालकर अपने ठाट-बाट और राजसी शान का ही प्रदर्शन नहीं करता था अपितु यह राजनीतिक और सामरिक ताकत दिखाने का भी एक माध्यम बन गया था। हर राज्य में गणगौर और ईसर की सवारी को कड़ी सुरक्षा के मध्य गढ़ और किलों से बाहर निकाला जाता था। इसमें हाथी, घोड़ों और ऊँट की सवारी के काफिले होते थे। सेनाएँ सेनानायकों के साथ अपने हथियार लेकर साहस का प्रदर्शन करते हुए चलती थी। राजा-रानी, मंत्रिगण एवं राजमहल के प्रमुख लोग सवारी में शामल होते थे। रियासत के निवासी अधिकाधिक संख्या में यात्रा में भाग लेते थे।

जयपुर के कच्छावा वंश के शासन काल में गणगौर के त्यौहार की बात करें तो जयपुर इन्फेन्ट्री बटालियन की सशस्त्र सैनिक टुकड़ी की मौजूदगी में जयपुर में गणगौर की सवारी निकलती थी। सैनिक माता को सलामी भी देते थे। सन् 1875 के जयपुर के कच्छावा वंश की गणगौर के उत्सव में ग्वालियर के महाराज के अतिथि के रूप में आने और अजमेर की नृत्यांगनाओं को बुलाने और शानदार उत्सव के आयोजन का वर्णन इतिहास में पढ़ा जाता है। 1860 में बीकानेर के महाराजा गंगासिंह जयपुर की गणगौर देखने आए थे और महारानी गायत्री देवी ने गणगौर पूजन और गणगौर उत्सव से जुड़ी अपनी स्मृतियों में लिखा है कि दरबारी लाल पोशाक में होते हैं, बादल महल के शाही दरबार में संगीत और नृत्य के कार्यक्रम होते हैं, जय निवास बाग में फव्वारे चलते हैं और सजावट होती है, और राज पुरोहित की पत्नी को गहने आभूषण, वस्त्र-जोड़े और सुहाग का सामान दिया जाता है।

जयपुर में आज भी गणगौर की सवारी उतनी ही धूमधाम से निकाली जाती है और आज भी यह त्यौहार आम और खास लोगों के बीच की मजबूत कड़ी और सौहार्द का प्रतीक है।

इसी तरह से ही, जैसलमेर जो अपने वैभव, शिल्प और रेतीले धोरों के लिए प्रसिद्ध है वह अपनी सांस्कृतिक विरासत के लिए भी जाना जाता है और वहाँ का गणगौर का उत्सव इसी सांस्कृतिक धरोहर का एक भाग है। वहाँ भी गणगौर के लवाजमे की शोभा देखते ही बनती है। जैसलमेर के साथ-साथ उदयपुर, कोटा और बीकानेर रियासतों के इतिहास में भी गणगौर पूजन और गणगौर की सवारी का विशेष वर्णन है।

रियासतों का दौर वो दौर था जब अनेकानेक कारणों जैसे अपने राज्य विस्तार या दूसरे राज्य पर आधिपत्य पाने या वैवाहिक संबंध बनाने इत्यादि से एक राजा दूसरे राज्य पर आक्रमण किया करते थे। इसी संदर्भ में आपसी वैर भाव या मनमुटाव के चलते गणगौर की सवारी के दौरान आक्रमण किए जाने और गणगौर और उसके खजाने को लूटने की घटनाएं भी इतिहास में पढ़ी जाती हैं। किसी भी ठिकाने या रियासत की गणगौर को ताकत के बल पर लूट के लाना राजपूत अपनी शान समझते थे। और उसको अपनी रियासत में लाने से अपनी रियासत की सुख-समृद्धि में बढ़ोतरी होने की सोच रहती थी। उदाहरण के तौर पर, वर्तमान में जैसलमेर की गणगौर की सवारी में उनके साथ ईसर की मूर्ति अब नहीं होती क्योंकि बीकानेर के महाराजा इसे आपसी मनमुटाव के कारण उठा ले गए थे। अब वहाँ केवल गणगौर की ही सवारी निकलती है।

इर प्रकार हर रियासत की गणगौर की अपनी विशिष्टताएँ रही हैं और यह एक ऐसा पर्व रहा है जो न केवल उस रियासत की संस्कृति और दूसरी रियासतों में उसके शौर्य के प्रसार प्रतीक था बल्कि राजघरानों के वासियों और आम जन- मानस के मेलजोल और उनके बीच एक कड़ी का भी काम करता था। गणगौर पूजन राजमहलों में होने के बाद गणगौर की सवारी के बाहर निकलने की परम्परा के कारण, आम लोग भी इसमें बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेते थे। धीरे-धीरे यह घर-घर में मनाया जाने वाले त्यौहार बन गया और समय बीतने के साथ इस त्यौहार के स्वरुप में भी परिवर्तन आया। आज यह केवल राजसी ठाट-बाट और समृद्धि के प्रदर्शन का प्रतीक नहीं बल्कि प्रेम, सौहार्द और भक्ति का अद्भुत संगम है।

1. गणगौर पूजन : विधि

होलिका दहन के अगले दिन, यानि चैत्र कृष्ण प्रतिपदा से लेकर चैत्र शुक्ल तृतीया तक यह त्यौहार चलता है। इस मौके पर होलिका दहन की राख के पिण्ड बनाकर जौ के अंकुरों के साथ इनका पूजन किया जाता है। पूजा के लिए उपवनों से फूल और दूब लाते हुए भी गीत गाए जाते हैं। जनश्रुति के अनुसार इसका आरम्भ पार्वती के गौने या अपने पिता के घर पुन: लौटने और अपनी सखियों द्वारा स्वागत गान को लेकर हुआ था। इसकी स्मृति में स्त्रियाँ गणगौर की काष्ठ की प्रतिमाओं को सजा कर उनकी पूजा करती हैं और काष्ठ प्रतिमाओं को त्यौहार के बाद भी घर पर ही रखा जाता है। मिट्टी और राख की जिन प्रतिमाओं का पूजन किया जाता है, उन्हें जलाशय पर भी ले जाया जाता है और अंतत: नृत्य और गीतों के साथ मिट्टी की प्रतिमाओं को विसर्जन कर दिया जाता है।

पूजन के लिए प्रात:काल नहा धोकर और सज संवर कर गणगौर की पूजा करने वाली महिलाओं की टोली एक दूसरे को बुलाने के लिए निकल जाती है। गाँव की गलियों में सुबह से ही चहल पहल हो जाती है। सब मिलकर पूजा के लिए दूब और फूल लाते हैं फिर कुएँ से स्वच्छ जल भरकर घर आकर पूजा शुरु करने के लिए सुहाग की सामग्री यानि काजल, सिंदूर और मेंहदी लेकर गणगौर की स्थापना के स्थान पर इन तीनों वस्तुओं से टीके लगाए जाते हैं। जो होली की राख से पिंड बनाकर और सजाकर गणगौर की स्थापना की गई होती है, उस स्वच्छ जल के छींटे लगाकर नहलाया जाता है, तिलक लगाया जाता है, घर पर बने किसी खाद्य पदार्थ का भोग लगाया जाता है। इन 16 दिनों में गणगौर को भोग लगाने के लिए नित नए व्यंजन और पकवान बनते हैं। उसके बाद हाथ में दूब लेकर, कटोरे में दूध और पानी के मिश्रण के छींटे गणगौर को लगाते हुए उसकी अर्चना की जाती है और पूजा का गीत गाया जाता है। पूजा के गीत के बाद, गणगौर के और अपने अखण्ड सुहाग की कामना करते हुए टीकी, चुनड़ी, चुलड़ों आदि गीत गाए जाते हैं और अंत में कलश के जल से सूर्य भगवान को जल अर्पित करके सुबह की पूजा सम्पूर्ण की जाती है।

प्रात: काल के इस पूजन के बाद दिन के अन्य पहर में भी गणगौर के सब लाड़-प्यार किए जाते हैं क्योंकि गणगौर को शादी के बाद पीहर आय़ा हुआ माना जाता है तो स्वागत सत्कार और प्रेम व्यवहार किया जाता है। शाम के समय भी गणगौर को कुए से पानी पिलाने ले जाया जाता है या पानी के कलश भर के लाए जाते हैं और उस समय भी गीत गाकर उल्लास मनाया जाता है। फिर गोधूलि बेला के बाद गणगौर का संध्या पूजन होता है। संध्या पूजन के बाद गणगौर को सैर के लिए बाहर भी ले जाया जाता है। आस-पास के सब लोग गणगौर और पूजन करने वाली टोली का अपने घर में स्वागत करने, भोग लगाने के लिए लालायित रहते हैं और गणगौर का आगमन घर के लिए शुभ मानते हैं। शाम के भोजन का भोग लगाकर, गीत गाकर यह पूजा की जाती है। आठ दिन तक इस प्रकार कार्यक्रम चलने के बाद, माना जाता है कि ईसर गौर को ले जाने के लिए आ जाते हैं और अगले आठ दिन तक वहीं वास करते हैं। गणगौर की पूजा शुरू होने के आठवें दिन कुम्हार से मिट्टी लाकर गणगौर और ईसर दोनों की प्रतिमाएं बनाई जाती हैं और अगले आठ दिन की पूजा और गीत में ईसर के आगमन, उनके वास और स्वागत सत्कार का वर्णन भी होता है। इस पूरी पूजा अर्चना में गीतों का विशेष महत्व है।

गीत एवं उनका सार

सर्वप्रथम, पूजन के लिए फूल, दूब इत्यादि लेने जाने के समय यह गीत गाया जाता है-

बाड़ी हारी बाड़ी खोल, बाड़ी की किवाड़ी खोल
छोरियाँ आई दूब न।
थे कुण्या जी री बेटी हो, कुण्या जी री भैण हो
के थारो नाम है।
म्हे बिरमदास जी री बेटी हां, ईसरदार जी री भैण हां
रोंवा म्हारो नाम है।

इस तरह आगे की पंक्तियों में सब अपने अपने पिता, भाई और स्वयं का नाम बताकर अपना अपना परिचय देते हैं। एक तरीके से पूजन वाली पूरी टोली के परिचय का और विधिवत पूजन शुरु करने का गीत है। इस गीत में ईसरदास (शिव के प्रतीक) का भी वर्णन आ जाता है जिनका बिरमदास जी (ब्रह्मा जी) के पुत्र के रूप में परिचय दिया गया है। इसी गीत

और अन्य कई गीतों में ईसरदास जी की बहिन का नाम रोवां बाई और उनके पति का नाम सूरजमल और साथ ही ईसरदास जी के एक अविवाहित भाई का नाम कानीराम बताया गया है। यह सब गौरां का ससुराल पक्ष है। परिवार की वैवाहिक जीवन में भूमिका और पारिवारिक प्रेम और भावनात्मक रिश्तों का महत्व उजागर किया गया है।

दूब लाने के बाद घर आकर निम्नलिखित गीत गाकर गौरी मैया का पूजन करते हैं और पूजन के इस गीत में बताया जाता है कि गौर माता पूछ रही हैं कि आपको क्या वर चाहिए और पूजने वाली सब अपनी इच्छाएँ और कामनाएँ बताती हैं।

गौरि ए गणगौरी माता ! खोल किवाड़ी'
बाहर उबी थारी पुजनवाली
पूजो ए पूजाओ बाई , काई – काई ! मांगों ?
अन्न मांगों , धन मांगों , लाछ मांगों , लछमी ||
जलहर जामी बाबल माँगा राता देई माई |
कान कुंवर सो बीरों माँगा राई सी भोजाई
ऊंट चढ्यो बहणेंई माँगा चुडला वाली बहणल||

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित गीत भी गणगौर प्रतिमाओं को पानी के छींटे लगाते समय और अन्य विधान करते समय गाया जाता है। इसमें भी महिलाएँ अपने सुहाग की कामना करती हैं।

गौर गौर गोमती ईसर पूजे पार्वती
पार्वती का आला-गीला , गौर का सोना का टीका
टीका दे , टमका दे , बाला रानी बरत करयो
करता करता आस आयो वास आयो
खेरे खांडे लाडू आयो, लाडू ले बीरा ने दियो
बीरो ले मने पाल दी, पाल को मै बरत करयो
सन मन सोला, सात कचौला, ईशर गौरा दोन्यू जोड़ा
जोड़ ज्वारा, गेंहू ग्यारा, राण्या पूजे राज ने, म्हे पूजा सुहाग ने
राण्या को राज बढ़तो जाए , म्हाको सुहाग बढ़तो जाय,
कीड़ी- कीड़ी, कीड़ी ले, कीड़ी थारी जात है, जात है गुजरात है,
गुजरात्यां को पाणी, दे दे थाम्बा ताणी
ताणी में सिंघोड़ा, बाड़ी में भिजोड़ा
म्हारो भाई एम्ल्यो खेमल्यो, सेमल्यो सिंघाड़ा ल्यो
लाडू ल्यो, पेड़ा ल्यो सेव ल्यो सिघाड़ा ल्यो
झर झरती जलेबी ल्यो, हरी -हरी दूब ल्यो गणगौर पूज ल्यो
इस तरह सोलह बार बोल कर आखिरी में
बोले एक-लो, दो-लो, तीन लो .....सोलह-लो।

इसके बाद सुहाग की प्रतीकस्वरूप वस्तुओं के पूजन, सौन्दर्य वर्णन और उनके महत्व को उजागर करते हुए चुड़ला, टीकी, चुनड़ इत्यादि गीत गाए जाते हैं। उदाहरण स्वरुप यह टीकी का गीत:

अम्बो तो जाम्बा टीकी ,पाना तो पल्ला टीकी
हरो नगीनों ए
या टीकी गौरा बाई ने सोवे
ईशरदास जी बैठ घडावे टीकी
चमकण घाघरो चमकण चीर,
बोलबाई रोवां कुण थारा बीर
बड़ो बड़ो म्हारो ईशरदास बीर
बांसयुं छोटो कानीराम बीर
चुनरी ओढावे म्हारो ईशरदास बीर
माय स्यु मिलावे म्हारो छोटो कानीराम बीर।
चमकण लागे घाघरा चमकण चीर

गीतो की इस कड़ी में ईसर दास जी को बाई सा को लेने आए जवाईं राजा मानकर न केवल उनकी मान-मनुहार और सम्मान के गीत गाए जाते है अपितु सालियों द्वरा उनसे मजाक करने के गीत भी गाए जाते हैं जो जीजा साली के रिश्ते में हास परिहास के महत्व को दर्शाते हैं। सालियाँ कहती हैं कि हमने ईसर को गाय, भैंस और बकरी सबका ग्वाल बनाकर उनकी देखभाल के लिए भेजा था और वो हर बार हमारी एक विशेष गाय, विशेष भैंस या बकरी को गुम कर आते हैं। ऐसे में हम क्रोधित होकर उनकी मूसल, चम्मच, चिमटा, पाटा से पिटाई करने की सोचते हैं परन्तु गौर बाईसा के लिहाज से ऐसा नहीं कर पाते हैं।

सालियों द्वारा मजाक का गीत-
ईसर गयो ऐ म्हारो गाया लार ग्वाल
आथन आयो ऐ म्हारी भूरती गाय गमार
म्है तो राखी ए म्हारी गौरा बाई री लाज
म्है तो देता ए घम्मर घेसला री चार
पाटा पीढ़ड़ा री चार

उखल मूसला री चार

इसी प्रकार निम्नलिखित गीत में भी गण और गौर के प्रेम के वर्णन के साथ-साथ उनके रिश्ते में सालियों के महत्व को भी दर्शाया गया है-

ईसर जी तो पेचो बान्ध
गोरांबाई पेंच संवार ओ राज
साली छां मतवारी ओ राज

भंवर पटां पर वारी ओ राज
केसर की सी क्यारी ओ राज
लूंगा की सी बाड़ी ओ राज
म्हें ईसर थारी साली छां म्हें ईसर थारी साली छां
ईसर जी तो मोती पैर
गोरांबाई गर्दन सवांर ओ राज
म्हें ईसर थारी साली छां
ईसर जी तो बींटी पैर
गोरांबाई आंगली सवांर ओ राज
म्हें ईसर थारी साली छां

गणगौर पूजन : महत्व

भारत में हिंदुओं का यह एक लोकप्रिय और महत्वपूर्ण त्यौहार है जो हमारी भक्ति, संस्कृति और धार्मिक विरासत को दर्शाता है। गणगौर पूजा का मुख्य उद्देश्य वैवाहिक जीवन में सामंजस्य और सुख-समृद्धि के लिए माता गौरी से आशीर्वाद प्राप्त करना है। इस त्योहार को भक्ति भाव से मनाने से प्रेम, सुख और समृद्धि का आशीर्वाद मिलता है। गणगौर पूजन का न केवल पौराणिक और राजनैतिक आधार है अपितु इसके महत्वपूर्ण सामाजिक और भावनात्मक आधार भी हैं। यह राजस्थान और उत्तर भारत के स्त्री प्रधान त्यौहारों में से एक है। यद्यपि, गणगौर की सवारी में सैनिक और आम जनता सब शामिल होते हैं परंतु यह मूलत: स्त्रियों द्वारा शिव पार्वती की आराधना का, अखंड सुहाग की कामना का और पारिवारिक एवं भावनात्मक रिश्तों के महत्व को सम्मान देने का त्यौहार है। देवी गौरी शक्ति और भक्ति का प्रतिनिधित्व करती हैं। वह विवाह संबंध में धैर्य, समर्पण और प्रेम के महत्व को प्रतिपादित करती हैं। इस पूजन में भगवान शिव और देवी पार्वती की हस्तनिर्मित मिट्टी की आकृतियाँ पवित्र जोड़ी के अंतहीन प्रेम का प्रतिनिधित्व करती हैं। इसके साथ ही, महिलाएं मेहंदी लगाती हैं और पारंपरिक पोशाक पहनती हैं जो पारिवारिक समृद्धि और खुशी का परिचायक हैं। परिवार के अन्य सदस्यों जैसे ईसर के पिता, बहिन, भाई आदि का वर्णन भी विशेषकर विवाह पश्चात् के जीवन में परिवार के सदस्यों की महत्वपूर्ण भूमिका और उनके महत्व को दर्शाता है। इस प्रकार यह त्यौहार वैवाहिक जीवन और सह-संबंधों के लिए आवश्यक त्याग, समर्पण और प्रेम के दर्शन का परिचायक भी है।

गणगौर पूजन : बदलता परिवेश एवं नई रीतियाँ

आधुनिक दौर में, गणगौर पूजन के तौर-तरीकों में काफ़ी बदलाव और मनोरंजक परिवर्तन हुए हैं। लोग इस त्यौहार में ईसर गौर के विवाह का उत्सव भी मनाने लगे हैं। उन्हें विदा करने से पहले उनकी सगाई, मेंहदी, हल्दी और फेरों जैसी रस्में भी करने लगे हैं। इन उत्सवों में भोग का सामान भी ऐसा ही बनवाते हैं मानो सच में शादी के अवसर पर बनता हो और उसी तरह की वेशभूषा धारण करते हैं और घर में साज-सज्जा करते हैं। गणगौर के गीतों के साथ-साथ डीजे पर बजने वाले म्यूजिक और नृत्य कार्यक्रम सहज ही दिखाई देते हैं। हर्ष की बात यह है कि यह वर्षों पुरानी परम्परा आज भी बरकरार है और नई पीढी बहुत धूम-धाम से यह त्यौहार मनाती है। आवश्यकता है कि समय के साथ हम इस पूजन में नए तौर-तरीके जोड़ने के साथ-साथ पुरानी मान्यताओं और विधि-विधान को भी महत्व दें और उन्हें भी अपनाएँ। आज के समय में, बढ़ती पर्यावरणीय चिंताओं के कारण, भक्तगण संधारणीय या पर्यावरण-अनुकूल गणगौर पूजा पद्धतियों को अपना रहे हैं। उदाहरण के लिए, मूर्तियों को बनाने के लिए पर्यावरण-अनुकूल सामग्रियों का उपयोग किया जाता है। इन मूर्तियों को सजाने के लिए सिंथेटिक या रासायनिक रंगों के स्थान पर जैविक रंगों और सामग्रियों का उपयोग किया जाता है। मूर्तियों के विसर्जन के दौरान जल संरक्षण के उपायों का भी पालन किया जाता है। इस प्रकार गणगौर का त्यौहार हमारी सुख-समृद्धि, सामाजिक जागरुकता और आपसी सौहार्द का परिचायक बना हुआ है।

*****

सात समंदर पार संस्कृति और संस्कारों की जीवंत यात्रा

ऊषा शर्मा
साहित्यकार, नई दिल्ली

भारत मेरे लिए केवल एक भौगोलिक सीमा नहीं, अपितु एक जीवंत चेतना है, जो मनुष्य के सोच, आचरण और संबंधों में निरंतर प्रवाहित होती रहती है। जब जीवन के छः दशक पीछे छूट जाते हैं और स्त्री माँ से दादी और फिर नानी बन जाती है, तब देखने की दृष्टि अपने-आप गहरी और व्यापक हो जाती है। मैं जब अपनी बेटी के पास इंग्लैंड के डंस्टेबल शहर आई, तो यह यात्रा केवल देशों की दूरी नहीं थी, अपितु संस्कृतियों के संवाद की यात्रा थी।

अक्सर यह कहा जाता है कि विदेश जाकर लोग अपनी जड़ों से कट जाते हैं और अपनी भाषा, धर्म और परंपराएँ भूल जाते हैं। लेकिन मेरा अनुभव इससे बिल्कुल भिन्न रहा। मैंने यहाँ एक ऐसा भारत देखा, जो भले ही भौगोलिक रूप से दूर था, पर भावनाओं, संस्कारों और आस्था के स्तर पर गहराई से जीवित था—एक नन्हा, पर धड़कता हुआ भारत।

भारतीय संस्कृति को सींचते प्रवासी भारतीय

इंग्लैंड में बसे भारतीय मूल के परिवारों को देखकर मन श्रद्धा से भर उठता है। वे वहाँ के नागरिक हैं, उनके बच्चे वहीं जन्मे हैं, वहीं पले-बढ़े और शिक्षित हुए हैं, फिर भी उन्होंने अपने धर्म और संस्कृति से नाता नहीं तोड़ा है। वहाँ बने भव्य मंदिर और गुरुद्वारे इसका सशक्त प्रमाण हैं। इन धार्मिक स्थलों में नियमित पूजा-पाठ, गुरबाणी पाठ, आरती, लंगर, भोग-प्रसाद—सब कुछ उसी श्रद्धा और अनुशासन के साथ होता है, जैसा भारत में।

इन परिवारों की सबसे बड़ी चिंता अपने बच्चों को भारतीय मूल्यों से जोड़े रखना है। माता-पिता पूरे प्रयास से बच्चों को मंदिर ले जाते हैं, सेवा-भाव सिखाते हैं, लंगर में बैठाकर समानता और करुणा का पाठ पढ़ाते हैं। वे चाहते हैं कि बच्चे आधुनिक जीवन जिएँ, पर अपनी जड़ों से भी जुड़ें रहें।

बेरी पार्क की दीपावली: डंस्टेबल के पास बसा 'मिनी भारत'

मैं डंस्टेबल में रहती हूँ, जो एक बहुत ही शांत और व्यवस्थित जगह है। लेकिन जब भी मन अपनी मिट्टी की खुशबू और भारतीय हलचल के लिए तरसता है, तो हम सब बेरी पार्क की ओर निकल पड़ते हैं। डंस्टेबल से बेरी पार्क तक का वह छोटा सा सफर असल में हमें यादों के भारत तक ले जाता है। दीपावली के दिन तो यहाँ का नज़ारा अलौकिक होता है। पूरे डंस्टेबल और आस-पास के इलाकों से हम जैसे भारतीय परिवार बेरी पार्क में एकत्र होते हैं। वहाँ की सड़कों पर जब पटाखों की आवाज़ गूँजती है और आसमान आतिशबाज़ी से रंगीन हो जाता है और दिल झूम उठता है। हम एक-दूसरे को मिठाई, चॉकलेट और अन्य उपहार देते हैं। उस भीड़ में कोई पराया नहीं लगता; हर चेहरा अपना सा लगता है। बेरी पार्क का वह भव्य सांस्कृतिक उत्सव सच में एक 'मिनी भारत' सा अहसास कराता है। तब महसूस होता है कि हम अपनी जड़ों को अपने साथ ही लेकर चलते हैं।

भाषा : सबसे कठिन, पर आवश्यक सेतु

भाषा को लेकर संघर्ष सबसे अधिक दिखाई देता है। माता-पिता चाहते हैं कि बच्चे हिंदी, पंजाबी, गुजराती जैसी भारतीय भाषाएँ सीखें, पर बच्चे इन्हें बड़ी कठिनाई से सीख पाते हैं। घर के बाहर पूरी दुनिया अंग्रेज़ी में चलती है। मैंने स्वयं बच्चों को हिंदी पढ़ाने का प्रयास किया। छोटी-छोटी तुतलाती आवाज़ों में जब वे हिंदी के अक्षर दोहराते थे, तो मन भर आता था। वे भले ही शुद्ध भाषा न बोल पाएं, पर जब 'नमस्ते', 'राम-राम' या 'वाहेगुरु' कहते थे, तो लगता था कि संस्कार का बीज बोया जा चुका है। एक दादी-नानी के रूप में मेरा मानना है कि हमें पूर्णता की अपेक्षा नहीं, निरंतरता की आशा रखनी चाहिए।

संवाद की एक अनोखी यात्रा: प्रार्थना स्थल चर्च से मंदिर तक

इंग्लैंड प्रवास के दौरान मेरी मुलाकात रोज़ से हुई—वह एक ब्रिटिश महिला हैं और चर्च में पादरी हैं। हमारे बीच एक सहज मानवीय संबंध बना। वह मेरे साथ इस्कॉन मंदिर भी गईं। मैंने उन्हें साड़ी पहनाई, माथे पर बिंदी लगाई। जब वे मंदिर परिसर में भारतीय परिधान में खड़ी थीं, तो लगा जैसे संस्कृतियाँ एक-दूसरे को निहार रही हों। रोज़ ने मंदिर में बैठकर कीर्तन सुना और उस आध्यात्मिक वातावरण का रस तत्व ग्रहण किया। यही भारतीय संस्कृति की शक्ति है—यह समझाने से नहीं, अपनाने से समझ में आती है। रोज़ मेरे साथ गौशाला भी गईं। वहाँ उन्होंने गायों को चारा डाला। उस क्षण किसी भाषा की आवश्यकता नहीं थी। करुणा स्वयं बोल रही थी। रोज़ ने बाद में कहा कि भारतीय दर्शन का 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का भाव व्यवहार में दिखाई देता है। यही तो 'वसुधैव कुटुंबकम्' है। संस्कृति केवल पूजा नहीं, संस्कार भी है। संस्कृति केवल मंदिर या पूजा-पाठ तक सीमित नहीं होती। वह हमारे हुनर, व्यवहार और रिश्तों में भी बसती है। मैंने अपनी अंग्रेज पड़ोसिनों और उनकी बेटियों को सलाई और क्रोशिया से स्वेटर बनाना सिखाया। ऊन के फंदों के साथ-साथ संवाद भी बुनते चले गए। वे लड़कियाँ बड़े उत्साह से यह कला सीखती थीं। उनके बनाए स्वेटर की खुशी देखकर मुझे लगा कि उस प्रक्रिया में वे केवल स्वेटर नहीं, बल्कि भारत की 'दादी-नानी' वाली ममता को भी महसूस कर रही थीं।

नई पीढ़ी, नई चुनौतियाँ

आज की युवा पीढ़ी आत्मविश्वासी है, प्रश्न करती है—यह उसकी शक्ति है। पर इसी के साथ, तेज़ रफ्तार वाले जीवन में वह ठहरकर अपने भीतर झाँकना भूलती जा रही है। प्रौद्योगिकी ने सुविधाएँ दी हैं, पर आपसी संवाद को कम कर दिया है। ऐसे समय में संस्कृति की आवश्यकता और भी बढ़ जाती है। यह संस्कृति ही है जो संतुलन सिखाती है—आधुनिकता और परंपरा के बीच, स्वतंत्रता और मर्यादा के बीच।

निष्कर्ष : विरासत का स्नेहपूर्ण हस्तांतरण

पैंसठ वर्ष की आयु में जब उंगलियों में दर्द होता है और हाथ काँपते हैं, तब यही स्मृतियाँ जीवन में ऊर्जा भरती हैं। यह हमारी जिम्मेदारी है कि हम अगली पीढ़ी को केवल सुविधाएँ नहीं, संवेदनाएँ भी दें। उन्हें यह महसूस कराएँ कि संस्कृति कोई बोझ नहीं, अपितु अपनापन है। हम जहाँ भी रहें, यदि अपने संस्कारों की सुगंध फैलाते रहें—तो भारत केवल एक देश नहीं, अपितु एक भावना बनकर संसार में जीवित रहेगा।

*****

गाड़िया लोहार – सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य

डॉ. कीर्ति माहेश्वरी
सहायक आचार्य, हिंदी विभाग
जय नारायण व्यास
विश्वविद्यालय,जोधपुर

गाड़िया लोहार एक घुमंतू समुदाय है जो राजस्थान से निकलकर देश - प्रदेश में विचरण कर रहे हैं, तथा आज भी सिसोदिया वंश के वंशज महाराणा प्रताप के प्रति दृढ़ प्रतिज्ञा का पालन करते हुए बैलगाड़ी के साथ जीवन यापन करते हैं। इनकी अनूठी संस्कृति मान्यताएं एवं रीति रिवाज इस दौर में भी संरक्षित है। यह समुदाय अपनी जीवन शैली, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा सामाजिक सेवाओं एवं कल्याणकारी योजनाओं से इतर अपनी बैलगाड़ी को अनूठे ढंग से सजाकर जीवन में विभिन्न प्रतिमान लिए 'लोहारी – कौशल' से आज भी आजीविका कमाते हैं। सांस्कृतिक विविधता की अहम पहचान रखने वाला 'मध्यप्रदेश में ऐसी कई घुमक्कड़ जातियां निवासरत है जिनकी वास्तविक जीवन शैली में पहचान को उजागर करने के लिए शासन-प्रशासन द्वारा संगठित प्रयास किए जा रहे हैं। घुमंतू, अर्ध-घुमंतू और विमुक्त जनजातियों के राष्ट्रीय आयोग को सौंपे गए डॉक्टर बालकृष्ण रैंक आयोग की रिपोर्ट सन् 2008 के मुताबिक भारत के लगभग 89 प्रतिशत विमुक्त जनजातीय तथा 98 प्रतिशत घुमंतु समुदायों के पास कोई जमीन नहीं है और सार्वजनिक भूमि पर 11 प्रतिशत घुमंतू समुदाय का निवास है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि:- गाड़िया लोहार समुदाय ऐतिहासिक रूप से चित्तौड़गढ़, राजस्थान का एक घुमंतू समुदाय है जो वर्तमान में दिल्ली, मध्यप्रदेश, गुजरात, हरियाणा, पंजाब व उत्तर प्रदेश के साथ-साथ भारत के विभिन्न राज्यों में निवास करते हैं। यह समुदाय राजस्थान के सिसोदिया वंश के वंशज महाराणा प्रताप के प्रति दृढ़ प्रतिज्ञा का पालन करते हुए बैलगाड़ी के साथ जीवनयापन करते हैं, मान्यता अनुसार जब चित्तौड़ पर मुसलमानों का अधिकार हो गया तब गाड़िया लोहार समुदाय ने प्रण लिया कि जब तक इस दुर्ग पर अर्थात चित्तौड़ दुर्ग राणा का अधिकार नहीं होगा तब तक हम घर बनाकर नहीं रहेंगे और चित्तौड़ में अपना पैर नहीं रखेंगे। अरसा बीत गया, परंतु यह समुदाय आज भी अपने प्रण के प्रति कटिबद्ध है। परंपरागत मूल्यों के निर्वहन, अपनी संस्कृति को संजोए हुए, वचन के प्रति अडिग ऐसी कौम दुर्लभ ही मिलेगी जो अपने वचन को निभाते हुए अपने घर परिवार को आज भी बैलगाड़ी पर लादे हुए चल रहे हैं।

यह समुदाय छोटे स्तर पर लोहे के यंत्र,बर्तन तथा अन्य वस्तुएं बनाकर अपनी गाड़ी में, (जिसे गाड़िया कहा जाता है), बेचते हैं। यही इनके जीविकोपार्जन का साधन है। यह समुदाय मुख्य रूप से कृषि तथा रसोई में उपयोग होने वाले, लोहे के औजार और बर्तन बनाते हैं। इनकी अधिकांश बस्तियां सड़कों व फुटपाथों के किनारे स्थित होती है जिससे उनको अपना व्यवसाय करने व खरीददार ढूंढने में आसानी होती है। गाड़िया लोहार समुदाय के पारंपरिक पेशो के अंतर्गत आवास व काम का स्थान जरूरी है इस हेतु पुनर्वास में घर की सुविधा व दुकान के लिए स्थान आवश्यक है।

सामाजिक स्थिति : गाड़िया-लोहार की जीवन शैली विशिष्ट एवं पारंपरिक है, इसकी सामाजिक

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, आस्था, मान्यताएं व आर्थिक जीवन अत्यंत विशिष्ट है।

'क्रिसन रुक्मणी री वेली' में महाकवि पृथ्वीराज राठौड़ ने लोहार के आरणि का वर्णन किया है-

"रुकमइयऊ पेखि तपत आरणी रणी
पेखि रुकमणी - जल प्रसन
तणु लोहार वाम कर निय तणु
माहवि किउ सांडसी मन |"[1]

अर्थात्, श्री कृष्ण ने अपने मन को संडासी बना लिया और अपने शरीर को लोहार का बायां हाथ (जिससे वह संडासी को पकड़ता है) जैसे लोहार बाएं हाथ में पड़ी हुई संडासी अहरन पर रखते समय तप्त लोहे के संपर्क से जल उठती है और पास में रखें शीतल जल में डाल देने से शीतल हो जाती है वैसे ही,श्री कृष्ण के शरीर में स्थित उनका मन युद्ध भूमि से रुक्मकुमार को देखकर जल उठता था पर निकट बैठे रुक्मणी को देखकर प्रसन्न व शीतल हो जाता था।

वेशभूषा-खान-पान- गाड़िया लोहार समुदाय की वेशभूषा निराली है जिसमें पुरुष धोती-बंडी, कुर्ता, कांध, कोटी, पैंट-शर्ट तथा कानों में सोने-चांदी के कुंडल-बाटी हाथ में चूड़े इत्यादि पहनते हैं, वहीं महिलाएं कलात्मक पहनावा पहनती है जैसे छींटदार कढ़ाई वाला लहंगा, सितारों से जड़ी कुर्ती एवं छोटी चून्दडी सिर पर डालती है। गले में चांदी का कड़ा-

हँसली, हाथों में भुजाओं तक कांच, लाख, सीप व ताम्बे की चूड़ियाँ, नाक में लम्बी नथ, बाली, पाँव में भारी-भारी चांदी के कड़े, कानों में पीतल–चांदी–सोने की बालियाँ पहनती है, सिर के बालों को अलग अलग चोटियों में बांधकर रखती हैं जिनमें कौड़ियों की माला लपेटती हैं, कमर में कांचली या करधनी पहनती हैं। ये अपने शरीर पर चित्रकारी कर रंगों से सजाती हैं, हाथों में गुदना भी गुद्वाती है जो उनकी विशेष पहचान मानी जाती है। इनकी रिश्तेदारियां स्वयं के समुदाय में ही रहती है। उनकी बोली में मेवाड़ी की महक आती है, पहनावा एवं पारिवारिक ढांचा अब भी वही है। उनके बच्चों का जन्म भी गाड़ी (बैलगाड़ी) में ही होता है अर्थात छोटे कस्बों में सड़क किनारे रहने वाले गाड़िया लोहार आज भी प्रसव के लिए अस्पताल में नहीं जाते हैं तथा शिशु के 21वें दिन के उपरांत पीठ पर गर्म छड़ दागने की रस्म की बात तो हालांकि परिवर्तित होने लगी है क्योंकि इनमें हिंदुओं में अन्य समुदायों के रीति रिवाज पनपने लगे हैं। बच्चा- बच्ची में कोई भेद न करने तथा जन्म के समय छोटे-छोटे पारिवारिक उत्सव भी मनाये जाने की परंपरा है। गाडिया लोहार समुदाय में आज भी बचपन में ही बच्चों की सगाई कर देते हैं। इनमें गोत्र प्रथा भी प्रचलित है। यह संयुक्त परिवार में रहते हैं जिसमें सबसे बुजुर्ग व्यक्ति परिवार का मुखिया होता है। परिवार में स्त्री-पुरुष दोनों को महत्व दिया जाता है। इनमें कुप्रथाओं जैसे दहेज,पर्दा प्रथा भ्रूण हत्या का प्रचलन नहीं है। ये समुदाय अपनी गौरवमयी संस्कृति का आज भी पालन करते हैं।

खान-पान में गाड़िया लोहार समुदाय शाकाहारी-मांसाहारी दोनों है, सामान्यतः वे सिलबट्टे पर चटनी मसाले बनाते हैं तथा सब्जी-रोटी में दाल, बेसन, हरी सब्जी, चना, मसूर, अचार, गेहूं, बाजरा इत्यादि बनाते हैं। कभी-कभी पकवान बनाने का भी चलन हैं।

मनोरंजन के लिए इनमें मिट्टी के खिलौने, चौपड़- गट्टा, टोल, सांप- सीढ़ी, अष्टा-चंगा, दौड़ गिल्ली–डंडा, रेडियो, टीवी इत्यादि का प्रयोग करते हैं। इनमें शिक्षा का स्तर ज्यादा ठीक नहीं है अर्थात घुमंतू प्रकृति होने के कारण यह समुदाय स्थाई नहीं रहते व बच्चों की शिक्षा सही से नहीं हो पाती है। साथ

ही गांव-कस्बों के बाहर डेरे होने से स्कूल भी दूर पड़ता है।

इनकी जातिगत विशेषताएं जिन्हें यह समुदाय आज भी बड़ी शिद्दत से निभाते हैं जो इनके प्रण का अहम हिस्सा थी–

1. हम चित्तौड़ लौट कर नहीं आएंगे।
2. कुएं से पानी निकालने के लिए रस्सी नहीं रखेंगे।
3. स्थाई घर बनाकर नहीं रहेंगे।
4. गाड़ी में खाट रखेंगे भी तो उल्टी रखेंगे।
5. रात को दीपक नहीं जलाएंगे।

गाड़िया लोहार समुदाय की सांस्कृतिक स्थिति

गाड़िया लोहार समुदाय की आन - बान पर एक प्राचीन राजस्थानी दोहा मिलता है –

"धर पण माता- भोम हित, त्याग जगत सुखसार।

अमिटजगायी जोत तैं,धिन- धिन वीर लुहार ||"

गाड़िया लोहार समुदाय के संस्कृति अनोखी है यह हिंदू समाज का अभिन्न अंग है, यह समुदाय पौराणिक देवी - देवताओं तथा लोक देवता पञ्चपीर रामदेव जी, पाबू जी, गोगाजी, हडबूजी, मांगलिया मेहाजी तथा भेरुंजी, माताजी की पूजा करते हैं। इनका जीवन कठिनाइयों से भरा संघर्षमय रहा है। क्योंकि इनके घर भी बैलगाड़ी व जीविका भी बैलगाड़ी के साथ चलती है लेकिन इनका आध्यात्मिक जीवन के प्रति भी विशेष झुकाव है ; इनके प्रमुख गीत साकी(जो दो- दो पंक्तियों की रोचक कड़ियां होती है), सीठने (श्रृंगार गीत), धार्मिक गीत (भजन जो कबीर व दादू पंथ से प्रभावित) है।

साकी गीत

"अे जी सोलह बरस री बिन्दणी

अर ग्यारह बरस रो बींद।

अे ने भावे खेलणों अर इने आवे नींद।।

पीळा रो कांई ओढ़णो, ओढो कसूमल रंग।

घर रो थारो गेलसफो ,थे चालो म्हारे संग।।

राम खुदाई जी बावड़ी लिछमण काढें धार।

जळ भोडळ को बेवडो ,सीता बणी पिणियार।।"

सीठने गीत : प्रेम गीत जो नायिका अपने प्रेमी पथिक (राईका रेबारी) को बुला रही है कि किसी बहाने तुम मेरे से मिलने आओ –

"म्हारा बाड़ा में निमडली गुटका रे मुसलिये आव

गुटका र मुसलिये आव राईका रेबारी

म्हे रांदी छे तरकारी खावा रे मुसलिये आव

खावा रे मुसले आव राईका रेबारी

हूँ हूती छी माचा पे तू आवे कोनी आज

तू आवे को आज राईका रेबारी ।।"

लोकदेवता रामदेव जी को संबोधित कर गाया जाने वाला गीत –

"खरची तो टूटी बाबा सांस भारी

खोलो खजानों बाबा करो तियारी

देवरां में आया बाबा दरसण पाया

दरसण पाया बांका हरिगुण गाया ।"

कबीरपंथ व दादूपंथ का विशेष प्रभाव इनके धार्मिक गीतों व भजनों में देखने को मिलता है जिसमे ज्ञान व भक्ति के आगे सभी मनुष्यों की समानता पर बल दिया गया है –

"चतुराई चूल्हे पड़ी ,भट्टि पड़िया आचार ।

तुळसी हरि के सुमरण बिना चारों बरण चमार।।

"अेक डाळी पे दो पंछी बैठा, अेक गुरू अेक चेला।

किया गुरू बिना पंख लगाये, उड़ जाये हंस अकेला ।।"

सन् 1955 में पण्डित नेहरु ने चित्तौड़ में अखिल भारतीय गाडोलिया लोहारों का सम्मलेन आयोजित कर स्थायी रूप से बसने का आग्रह किया तब इसकी प्रतिक्रिया इन गीतों में इस प्रकार हुई –

"चितौड़ देस का जिकर करूँ भूमालिया ना बसना चाहे रे

भूमालिया तो कह पंडत ने हम ना बसना चाहे रे

खेती प्यारी करो हळ कुआ करो तुम बन के रखो मजबूत रे

चलो चलो चितौड़ देस ने आजादी दरबार में

हाथ जोड़कर अरज करूँ म्हें जनम गुजारे गाड़े में ।।"

गाड़िया लोहार समुदाय के जीवन में हालांकि बदलते समय के साथ-साथ कार्य करने के तरीकों में भी बदलाव आया है। यह अपनी भट्टी में प्रयोग होने वाली फुकनी (भट्टी को हवा देने वाला यंत्र) को अब बैटरी से संचालित करते हैं। जिससे इन्हें अपने कार्य में धुआं कम लगता है। परंतु पारम्परिक औजार बनाने के कारण इन्हें गावों में शहरी इलाकों में आधुनिक औजारों एवं उपकरणों के चलते इन्हें अपने औजारों का उचित मूल्य नहीं प्राप्त होता है। इसके चलते यह समुदाय अब अपना पारंपरिक कार्य को छोड़ने तथा दूसरे काम को करने को विवश है, एवं यह लोग अब अपने बच्चों को भी यह कार्य नहीं करने देना चाहते हैं। इसका मुख्य कारण इनके कार्य को समाज में निकृष्ट दृष्टि से देखा जाता है। अब इन्होंने अपने कार्य का व्यवसायीकरण कर अपने कार्य के बदले रुपए-पैसे लेना शुरू कर दिया, जो पहले अनाज के बदले बनाते थे। बदलते समय के साथ इनके सांस्कृतिक; पारंपरिक स्थिति में भी परिवर्तन हो रहा है।

लोहार समुदाय को वर्तमान समय में आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है क्योंकि इन्हें अपने काम का उचित मूल्य नहीं मिल पाता है एवं बाज़ारों में बढ़ती प्रतिस्पर्धा के कारण इनके सामान को इतना महत्व नहीं मिलता है, जिसके कारण इन्हें गरीबी में जीवन व्यतीत करना पड़ता है। इस समुदाय की आर्थिक समस्या का प्रमुख कारण सरकार द्वारा चलाए जा रहे विकास कार्यक्रमों की जानकारी न होना एवं शिक्षा के स्तर में कोई सुधार न होना भी है |

यह समुदाय खानाबदोश की तरह जीवन यापन करने के कारण तथा रास्तों के किनारे धूल एवं प्रदूषण में निवास से इनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। दूसरा सरकार द्वारा चलाई जा रही स्वास्थ्य संबंधी योजनाओं का इन्हें संज्ञान नहीं है। घुमक्कड़ प्रजाति होने के कारण कई मौसमी बीमारियों का शिकार हो जाते हैं।

इसके अलावा निवास संबंधी, स्थायी मकान, स्वास्थ्य तथा शौचालय संबंधी अनेक समस्याओं से जूझता हुआ यह समुदाय प्रगति की तलाश में इधर-उधर भटकता नजर आता है। हालांकि सरकार द्वारा जननी सुरक्षा योजना, जननी शिशु सुरक्षा कार्यक्रम, राष्ट्रीय बीमा योजना, सचल चिकित्सा वाहन, आशा कार्यक्रम, परिवार कल्याण कार्यक्रम जैसे तमाम प्रयास किये जा रहे हैं लेकिन इन सब से अनजान यह समुदाय आज भी समस्याओं से ग्रसित है।

आज के बदलते हुए परिवेश में गाड़िया लोहार के जीवन में बदलाव लाने के लिए सरकार द्वारा संचालित कार्यक्रमों की जानकारी को आर्थिक रूप से लाभदायक बनाने के लिए सरकारी एवं गैर सरकारी संस्थाओं को नए कार्यक्रम बनाने की आवश्यकता है। इस समाज के सदस्यों को अपनी सामाजिक पहचान बनाने की स्वयं चेष्टा करनी होगी। सांस्कृतिक एवं आर्थिक स्तर पर एक पहचान दिलाने के लिए कार्यक्रमों को आयोजित करना होगा, जिससे उनकी सामाजिक, आर्थिक एवं पारिवारिक स्थिति सुदृढ़ करने में सहायक हो सके।

*****

हिंदी और अन्य भारतीय भाषाएँ

डॉ. रामचन्द्र रमेश आर्य
निदेशक (सेवानिवृत्त),
संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार

भारतीय भाषाएँ:

हमारा देश एक बहुभाषी देश है, यहाँ पर विभिन्न समृद्ध भाषाओं के साथ साथ कई आदिवासी/जनजातीय बोलियाँ भी बोली जाती हैं। इन सभी भाषाओं और बोलियों का भारतीय संस्कृति और समाज में अपना महत्वपूर्ण स्थान है। ये भाषाएँ विभिन्न भाषा परिवारों से संबंधित हैं, इनमें इंडो-आर्यन भाषाएँ सबसे अधिक बोली जाती हैं।

हिंदी, उर्दू, मराठी, गुजराती, पंजाबी, राजस्थानी, हरियाणवी, भोजपुरी, अवधी, मैथिली, बांग्ला आदि भाषाएँ, जो इसी परिवार से संबंधित हैं। मुख्यत:द्रविड़ भाषाएँ दक्षिण भारत में बोली जाती हैं। इनमें तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम आदि इसी परिवार से संबंधित भाषाएँ हैं। ऑस्ट्रोएशियाटिक भाषाएँ मुख्य रूप से पूर्वी भारत में बोली जाती हैं और संथाली, मुंडा आदि भाषाएँ इसी परिवार से संबंधित हैं। तिब्बती-बर्मन भाषाएँ मुख्य रूप से उत्तर-पूर्वी भारत में बोली जाती हैं। इनमें मणिपुरी, बोडो आदि भाषाएँ आती हैं।

भारत में कई आदिवासी/जनजातीय बोलियाँ हैं, जिनमें से कुछ मुख्य भीली, गोंडी, संथाली, हो, मुंडारी, कुड़ुख, कोरकू, खाड़िया, भूमिज, सौरा, कोया, बंजारा, भोटिया, लेपचा, लिम्बू, आदि मिश्मी, नागा, मिज़ो, त्रिपुरी, गारो, खासी, किन्नौरी, लद्दाखी आदि भाषाएँ हैं। ये सभी देश के विभिन्न राज्यों में व्यापक रूप से बोली जाने वाली आदिवासी/जनजातीय भाषाएँ हैं। इनमें से कई बोलियों के रूप में बोली जाती है।

इन सभी भाषाओं की अपनी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत है। ये बोली/भाषाएँ आदिवासी समुदायों की पहचान और भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग हैं। इसलिए जब भी हम भाषाओं की बात करते हैं तब उन सभी भारतीय समृद्ध भाषाओं के साथ साथ आदिवासी बोली व भाषाओं के विषय में भी बात करना आवश्यक है।

संविधान की आठवीं अनुसूची में अब तक 22 भाषाओं को शामिल किया गया है और भारत सरकार द्वारा इन भाषाओं को संरक्षित भी किया जा रहा है। इनमें से भारत सरकार ने लगभग 2000 वर्षों से अस्तित्व में रहने वाली भाषाओं को शास्त्रीय भाषा का दर्जा दिया है, जिनमें द्रविड़ परिवार की सबसे पुरानी तमिल भाषा को 2004 में, तेलुगु भाषा को 2008 में, कन्नड़ भाषा को 2008 में, मलयालम भाषा को 2013 में, ये द्रविड़ परिवार की अन्य महत्वपूर्ण भाषाएँ हैं और इनका भी समृद्ध साहित्य है।

इन भाषाओं को आधिकारिक भाषा के रूप में भी मान्यता प्राप्त है। संस्कृत को 2005 में शास्त्रीय भाषा का दर्जा दिया गया था। यह भाषा प्राचीन भारत की सबसे महत्वपूर्ण भाषाओं में से एक है। ओडिया भाषा को 2014 में शास्त्रीय भाषा का दर्जा दिया गया है। यह भाषा ओडिशा में बोली जाती है और इसका भी एक समृद्ध साहित्य है। कुछ और भाषाओं को शास्त्रीय भाषा का दर्जा देने के लिए माँग की जा रही थी, जिस पर सरकार ने पिछले वर्ष 2024 में विचार कर मराठी, पाली, प्राकृत,असमिया और बांग्ला को भी शास्त्रीय भाषा का दर्जा दिया है। इन भाषाओं की

संविधान की आठवीं अनुसूची में अब तक 22 भाषाओं को शामिल किया गया है और भारत सरकार द्वारा इन भाषाओं को संरक्षित भी किया जा रहा है। इनमें से भारत सरकार ने लगभग 2000 वर्षों से अस्तित्व में रहने वाली भाषाओं को शास्त्रीय भाषा का दर्जा दिया है,जिनमें द्रविड़ परिवार की सबसे पुरानी तमिल भाषा को 2004 में, तेलुगु भाषा को 2008 में, कन्नड़ भाषा को 2008 में, मलयालम भाषा को 2013 में, ये द्रविड़ परिवार की अन्य महत्वपूर्ण भाषाएँ हैं और इनका भी समृद्ध साहित्य है।

लिपियाँ भी अलग अलग हैं और इन भाषाओं का साहित्य भी समृद्ध है। वर्तमान शिक्षा नीति के अनुसार विश्वविद्यालयों में आजइन भाषाओं का अध्ययन जारी है और इन भाषाओं में उपलब्ध साहित्य को संरक्षित भी किया जा रहा है।

इससे संपूर्ण भारतीय भाषाओं में उपलब्ध ज्ञार भंडार को संरक्षण प्राप्त होगा। साथ साथ विशेषकर हमारी सांस्कृतिक परंपराओं का संरक्षण होगा। उसके साथ ही नागरिकों का बौद्धिक विकस भी होगा। इन भाषाओं में अद्वितीय ज्ञान का भंडार छिपा हुआ है।

ये बोली/भाषाएं मानव समाज की सांस्कृतिक और अमूर्त धरोहर हैं, जो देश के निर्माण के साथ विकास और पीढ़ियों तक ज्ञान व परंपराओं के हस्तांतरण में भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। वर्तमान में कुछ और भाषाओं को भी आठवीं अनुसूची में शामिल करने के लिए लंबे समय से माँग की जा रही है। यह आवश्यक भी है जिस पर सरकार को विचार करना चाहिए।

हिंदी:

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 343 में हिंदी को भारत संघ की राजभाषा के रूप में अंगीकार किया गया है और इसकी लिपि देवनागरी है। साथ साथ उत्तर भारत की अधिकतर राज्यों की सरकारों ने भी हिंदी को राजभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया है, इसलिए हिंदी की गरिमा और अधिक बढ़ गई है। दक्षिण भारत में भी हिंदी का प्रचार-प्रसार बढ़ रहा है और इस विषय पर सभी विद्यापीठों में अध्ययन और अनुसंधान किया जा रहा है।

आज भारत में यह सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषा भी है। हिंदी का आज भारतीय संस्कृति और समाज में महत्वपूर्ण स्थान है। देश की आज़ादी के समय हिंदुस्तानी के रूप में भी इस भाषा का प्रयोग होता रहा है। यह शिक्षा, साहित्य, मीडिया और प्रशासन में व्यापक रूप से उपयोग की जा रही है। विधि के क्षेत्र में भी इसका प्रयोग सुनिश्चित किया जा रहा है। हिंदी को भारत की संपर्क भाषा के रूप में भी हम स्वीकार करते हैं क्योंकि यह विभिन्न क्षेत्रों और समुदायों के बीच संचार का एक माध्यम है।

संविधान के अनुच्छेद 351 में भारत सरकार को जिम्मेदारी सौंपी गई है कि वह हिन्दी भाषा का प्रसार बढ़ाए और उसका विकास करे ताकि हिन्दी भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके और हिन्दी के साथ-साथ 8वीं अनुसूची में शामिल सभी भाषाओं की भी समृद्धि भी सुनिश्चित हो।

इसके लिए हमें यह आवश्यक है कि आठवीं अनुसूची के अतिरिक्त अन्य भारतीय बोली/भाषाओं के शब्दों को भी आत्मसात करना होगा ताकि हिंदी सभी को स्वीकार्य हो सके और 14 सितंबर, हमारे लिए भाषाई सौहार्द दिवस या भाषाई सद्भाव दिवस कहलाए। हिंदी आज संपूर्ण भारत की संपर्क भाषा के रूप में विद्यमान हो चुकी है औद देश के हर क्षेत्र का नागरिक इस भाषा को हृदय से अपना रहा है।

जिम्मेदारी सौंपी गई है कि वह हिन्दी भाषा का प्रसार बढ़ाए और उसका विकास करे ताकि हिन्दी भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके और हिन्दी के साथ-साथ 8वीं अनुसूची में शामिल सभी भाषाओं की भी समृद्धि भी सुनिश्चित हो।

अतएव प्रशासन और न्यायालय में कार्यरत सभी पदधारी भारतीय भाषाओं के शब्दों को आत्मसात करते हुए संघ सरकार के कार्यालयों में सभी पदधारी राजभाषा हिंदी के कार्यान्वयन पर विशेष रूप से ध्यान देते हुए अधिक से अधिक पत्राचार हिंदी में करें। साथ साथ देश के सभी राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों के पदधारी भी अपने अपने क्षेत्रों में विद्यमान बोली/भाषाओं के शब्दों को आत्मसात करते हुए अपनी अपनी राजभाषाओं में कामकाज करना सुनिश्चित करें। इससे हमरी क्षेत्रीय भाषाएं सशक्त होंगी और वहाँ की बोली/भाषाएं भी संरक्षित रहेगी ताकि हमारी भारतीय संस्कृति अक्षुण्ण बनी रहे। इससे हमारे संविधान का उद्देश्य पूरा होगा और हमारा गणतंत्र भारत सशक्त रहेगा। जय हिंद!

*****

भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत भाषा : एक सांस्कृतिक अनुशीलन

डॉ. सुमन प्रसाद भट्ट
सहायक प्रोफेसर
शिक्षाशास्त्र विभाग
उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय,
हरिद्वार

भारतीय संस्कृति **''सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा''** इस यजुर्वेद (7.14) वचन के अनुसार विश्व की प्राचीनतम एवं समृद्ध संस्कृतियों में अद्वितीय है जिसकी मूल धारा संस्कृत भाषा में निहित है। संस्कृत को भारतीय संस्कृति की आत्मा माना गया है। **''भारतस्य प्रतिष्ठे द्वे संस्कृतं संस्कृतिस्तथा''** के अनुसार भारत की प्रतिष्ठा संस्कृत और इसकी अपनी विशिष्ट संस्कृति से ओतप्रोत है। साथ ही **''संस्कृतिः संस्कृताश्रिता''** के अनुसार भारतीय सनातन संस्कृति संस्कृत भाषा पर आश्रित है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति के मूल तत्व संस्कृत भाषा में ही संरचित, सवंर्धित एवं उपबृंहित हैं। यह समन्वयात्मिका संस्कृति है, जिसमें विविधता में एकता का सन्देश वैदिक काल से ही अक्षुण्ण है। भारतीय संस्कृति समानता की संस्कृति है जिसमें **''संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्''** (ऋग्.-10.191.2) का उद्घोष भारतवर्ष की समान सांस्कृतिक संचेतना का उदात्त उदाहरण है। ऋग्वेद का **''पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः''** (ऋग्.-6.75.14) यह सूत्र परस्पर भ्रातृत्वभावना का सबल परिचायक है जो इस बात पर बल देता है कि प्रत्येक मानव को प्रत्येक मनुष्य की रक्षा करनी चाहिए।

भारतीय संस्कृति मित्रता की संस्कृति है। यही कारण है कि हम सभी प्राणियों से मैत्री भाव रखते हैं। यदि भारतीय संस्कृति पर सूक्ष्मता से विचार करें तो क्या पशु, क्या पक्षी, क्या वृक्ष और क्या लताएं, क्या पर्वत, क्या उपत्यकाएं और क्या जीवनदायिनी नदियां, यहां सभी के बीच मित्रता का परिपुष्ट भाव दिखायी देता है। यजुर्वेद के अनुसार **''मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।''** (36.18) अर्थात् हम सभी प्राणियों को मित्रता की दृष्टि से देखें, इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय संस्कृति में सभी जीवधारियों के प्रति मैत्री भाव रखने का निर्देश प्राप्त होता है। पूरे विश्व में ऐसा उदाहरण कहीं नहीं मिलेगा जहां सिंह, वृषभ, गाय, हाथी, कुत्ता, कौआ, गरुड़, मोर, चूहा, सर्प इत्यादि को देवताओं के साथ पूजा जाता हो, पीपल, बरगद, आम जैसे वृक्षों को पूज्य माना जाता हो और सुदूर ब्रह्माण्ड में विचरण कर रहे पिण्डों को पूजनीय माना जाता है। यह भारतीय संस्कृति ही है जहां गाय को माता मानकर वृषभ को धर्म का स्वरूप माना गया हो। यह भारतीय संस्कृति की ही विशिष्टता है कि उल्लू जैसे रात्रिचर पक्षी की पूजा की जाती हो और काग पक्षी को पित्रों का स्वरूप मानकर उसे भी पूज्य माना जाता हो।

ऋग्वेद का कथन है कि-**''न स सखा यो न ददाति सख्ये''** अर्थात् वह मित्र नहीं जो मित्र की सहायता न करता हो। यहां दान देना पुण्य का कार्य समझा जाता है। गोदान, भूदान, कन्यादान, अन्नदान, जलदान इत्यादि का दान यहां दरिद्र नारायण की सेवा समझी जाती है। भारतीय संस्कृति में दसमांश दान का विधान है। इसीलए वेद कहता है- **''शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर''** अर्थात् सौ हाथों से कमाओ और हजार हाथों से दान दो। कितना आश्चर्य है कि भारतीय संस्कृति में अतिथि को भी देवता माना गया है। जिस घर में अतिथि के पैर पड़ जाते हैं वह घर अपने को धन्य समझता है। भारतीय संस्कृति ने दान की दृष्टि से ही पांच ऋणों का विधान बनाया होगा जिसमें देव ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण, मनुष्य ऋण और भूत ऋण (पशु-पक्षी आदि के लिए) प्रमुख हैं। प्रत्येक गृहस्थ को इन ऋणों से मुक्त होने के लिए दान देना अनिवार्य है जो दिखाता है कि भारतीय संस्कृति दान की परम्परा का निर्वहण करने के लिए ही सही लेकिन इन सिद्धान्तों को अपनाकर मानव जाति के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करती है।

भारतीय संस्कृति समता प्रधान है। सभी प्राणियों में समता अत्यन्त आवश्यक है। किसी भी राष्ट्र की उन्नति के लिए समान भाव और समान विचार आवश्यक हैं। मन, वचन और कर्म की समता ही

वास्तव में समभाव कहलाता है। वैदिक ऋषियों ने **''संज्ञानं न स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः''** (ऋग्.-7.52.1) का विचार व्यक्त किया है, जिनके अनुसार हमें अपने और पराए दोनों से समान भावना रखनी चाहिए। यह ठीक भी है कि केवल अपने लोगों से ही समान भावना होने से क्या लाभ, वस्तुतः समान भावना का वास्तविक तात्पर्य तो तब समझ में आता है जब पराए लोगों से भी मैत्री का सम्बन्ध बन जाता है। केवल इतना ही नहीं बल्कि भारतीय संस्कृति का निर्देश है कि न केवल भारतीय नागरिकों से बल्कि विश्व के अनेक देशों एवं भूभागों में निवास करने वाले सभी जाति-धर्म के लोगों के साथ एक समान भाव रखना चाहिए। जैसे ऋग्वेद में उल्लिखित है-**''सर्वाः दिशः संमनसः सध्रीचीः''** (6.88.3) अर्थात् सभी दिशाओं में निवास करने वाले लोगों के साथ समान भावना रखनी चाहिए।

भारतीय संस्कृति और संस्कृत भाषा में न केवल भारतीय नागरिकों का हित चिन्तन विद्यमान है अपितु समग्र विश्व में निवासरत अधिसंख्य लोगों के योगक्षेम का चिंतन भी उपलब्ध है। संस्कृत भाषा की मान्यता है कि यह संसार वस्तुतः एक नीड के समान है जहां सभी धर्म और जातियों के लोगों को आपसी भेदभाव भूलकर परस्पर सौमनस्य से रहना चाहिए। यथा ऋग्वेद में उल्लिखित है-**''यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्''** इसके साथ ही संस्कृत ने समूचे विश्व को एक परिवार की तरह माना है - **''वसुधैव कुटुम्बकम्''** और इतना ही नहीं संस्कृत की संकल्पना रही है कि सम्पूर्ण जगत में कोई भी प्राणी दीन-हीन और निर्बल न रहे। इसलिए संस्कृत में उद्घोष है-**''कृण्वन्तो विश्वमार्यम्''** अर्थात् सभी लोगों को आर्य अर्थात् श्रेष्ठ बनाया जाना चाहिए। यह स्पष्ट है कि जिस देश में अशिक्षा, गरीबी, और दरिद्रता जैसी समस्याएं व्याप्त होती हैं वह देश आगे बढ़ कर उन्नति नहीं कर पाता, इसलिए संस्कृत का यह सूत्र कि सभी लोगों को श्रेष्ठ बनाया जाना चाहिए निश्चित ही महत्वपूर्ण है।

भारतीय संस्कृति ने **''सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग् भवेद्।।''** की शाश्वत प्रार्थना की है जो समग्र मानव जाति के कल्याण की कामना करती है। वस्तुतः इतनी सरलता और सहृदयता किसी और संस्कृति में देखने को नहीं मिलती। आज भी भारतवर्ष के घर-घर में यह प्रार्थना प्रतिदिन गायी जाती है, और यह माना जाता है कि जब सभी लोग सुखपूर्वक आरोग्यमय जीवन यापन करेंगे तथा सभी प्राणी निर्भयता पूर्वक यथेच्छ विचरण करेंगे तो निश्चित ही सभी सुखी रहेंगे। इससे यह स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति और संस्कृत भाषा ने लोककल्याण को प्रमुखता से स्वीकार किया है। जैसे परिवार में किसी सदस्य के बीमार होने पर पूरा परिवार परेशान हो जाता है उसी प्रकार विश्व में किसी एक देश के संकट में पड़ जाने पर पूरा संसार भी संकटग्रस्त हो जाता है। इसलिए संस्कृत भाषा की यह प्रार्थना निश्चित रूप से सभी के लिए महत्वपूर्ण है।

हमारी संस्कृति में पंच महाभूतों को देवरूप में स्वीकार किया गया है। क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर के रूप में यह पंच महाभूत मानवता के कल्याण के लिए कार्य करते हैं। इन महाभूतों में क्षिति अर्थात् पृथ्वी सबसे महत्वपूर्ण है। यह संस्कृत भाषा ही है जिसने सबसे पहले कहा कि-**''माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः''** (अथर्व. 12.1.12) अर्थात् पृथ्वी हमारी माता और हम इसकी संतान हैं। अथर्ववेद के अनुसार यह इस पृथ्वी माता की विशेषता है कि अनेक धर्मों, जातियों, सम्प्रदायों और आस्थाओं पर विश्वास रखने वाले प्राणी इसी पृथ्वी पर एक साथ निवास करते हैं लेकिन यह किसी से भेदभाव नहीं करती- **''नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्''** (12.1.45) और इतना ही नहीं भारतीय संस्कृति ने विश्व को यह भी सिखाया कि-**''अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतषाम्। उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।''**

यह मेरा है, यह पराया है, ऐसा चिंतन तो क्षुद्र बुद्धि वाले लोगों का होता है उदार चरित वाले लोगों के लिए यह समस्त ब्रह्माण्ड एक परिवार के समान है जिसमें निवासरत सदस्य एक दूसरे के सुख और दुःख में सहभागी बनते हैं। यह संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति की खूबसूरती ही है कि इतने उदात्त विचार यहां विद्यमान हैं। भारतीय संस्कृति में जल भी देवता के रूप में सभी के लिए पूज्य है। गंगा को देवनदी मानकर सर्वत्र इसकी पूजा की जाती है। यह हमारी संस्कृति की विशेषता है कि वैदिककाल से ही नदियों

को देवी के रूप में पूजा गया। ऋग्वेद का विश्वामित्र नदी संवाद, मानव नदी सम्बन्ध का सर्वप्रथम दिग्दर्शन कराता है। भारत की गंगा यमुना सरस्वती और क्षिप्रा, गोदावरी आदि नदियों के तटों पर कुम्भ और अर्धकुम्भ का आयोजन भी इसी मानव नदी सम्बन्ध की पुष्टि करता है, जहां कोटि-कोटि जन आस्था की डुबकी लगाकर अपने को धन्य मानते हैं। कितना आश्चर्य है कि हम अपने घर पर रहते हुए भी स्नान एवं पूजा के अवसर पर भारत की प्रमुख नदियों का नाम स्मरण कर - **''गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति। नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु।।''** की भावना से पुण्य के भागी बनते हैं और इन पावन नदियों के प्रति अपनी आस्था व्यक्त करते हैं। इसी के साथ - **''अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवन्तिका। पुरी द्वारावती चैव सप्तैताः मोक्षदायिकाः।।''** के रूप में भारत की प्रमुख आध्यात्मिक नगरियों जिनमें अयोध्या, मथुरा, माया (हरिद्वार) काशी, कांची, पुरी और द्वारिका प्रमुख हैं, का स्मरण कर यह माना जाता है कि घर पर रहकर भी इनके नाम संकीर्तन से पुण्य लाभ अर्जित कर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। इस रूप में इस मन्त्र का स्मरण यह भी सिद्ध करता है कि पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण पर्यन्त यह भारतभूमि एक ही है। यह भारतीय संस्कृति की ही चिरंतन विचारधारा है जिसमें इस पृथ्वी पर विद्यमान सभी पदार्थों में देवत्व का आभास किया जाता है, उनकी पूजा की जाती है और उनसे मानवता के कल्याण की प्रार्थना की जाती है।

भारतीय संस्कृति धर्म प्रधान है। वह धर्म ही है जो मनुष्य को पशुता से पृथक् करता है। कहा भी गया है - **''धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः''** वस्तुतः धर्म का सम्बन्ध उसे धारण कर अर्थात् आत्मसात् कर उसके आचरण करने से है। यथा - **''धारणात् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः। यः स्याद् धारणसंयुक्तः सः धर्म इति निश्चयः।।''** महर्षि कणाद के अनुसार **''यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः।''** अर्थात् जिससे अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति हो, इहलौकिक एवं पारलौकिक सुख की संप्राप्ति हो वही धर्म है। यह प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग में विश्वास रखने वाली संस्कृति है। भारतीय संस्कृति में धर्म को कर्म के साथ जोड़ा गया है। धर्मपालन का तात्पर्य कर्तव्य पालन से है। यहां धर्म का अर्थ सम्प्रदाय कदापि नहीं है। इसीलिए भग्वद्गीता में श्री भगवान कहते हैं - **''स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः''** अर्थात् अपना-अपना कर्तव्य पालन करते हुए यदि प्राण भी चले जाएं तो चिंता नहीं किन्तु किसी दूसरे व्यक्ति के कर्तव्य कर्म का अतिक्रमण करना भयावह है। यही भारतीय धर्मतत्व की विशेषता है जिसकी मान्यता यह है कि **''धर्मो रक्षति रक्षितः''** अर्थात् हमारे द्वारा रक्षित धर्म ही हमारी रक्षा करने में समर्थ होता है।

मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षण प्रतिपादित हैं - **''धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।''** अर्थात् धैर्य, क्षमा, दम (इन्द्रिय नियन्त्रण), अस्तेय (चोरी न करना), आन्तरिक एवं बाह्य पवित्रता, इन्द्रिय निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और क्रोध न करना यह धर्म के दस लक्षण हैं। मनुस्मृति के अनुसार जो व्यक्ति इन दस लक्षणों का सम्यक्तया पालन करता है वही वास्तव में धर्म का पालन करता है। भारतीय संस्कृति में कहीं भी धार्मिक कट्टरता का उल्लेख देखने को नहीं मिलता। इसका कारण स्पष्ट है कि यहां धर्म को कर्तव्य के रूप में माना गया है। जो व्यक्ति अपने कर्म का समुचित पालन करता है वही वस्तुतः धार्मिक है। इसीलिए महाभारत में भगवान वेदव्यास कहते हैं - **''श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्। आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।।''** अर्थात् धर्म का सार यह है कि हमें किसी भी प्राणी के प्रतिकूल आचरण अर्थात् जिससे उसे दुःख पहुंचे, ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए। भारतीय संस्कृति में चार पुरुषार्थों की संकल्पना भी धर्म से जुड़ी हुयी है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी यह चार पुरुषार्थ मानवता की पूर्णता और उसकी सार्वकालिक उन्नति के लिए हैं। यहां यह ध्यान देना आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति में धर्मपूर्वक अर्थ अर्जित करना, धर्मपूर्वक काम का उपभोग करना तथा धर्मपूर्वक मोक्ष प्राप्त करना ही अनुमन्य है। अर्थ, काम और मोक्ष से पूर्व धर्म का होना आवश्यक है। यदि अर्थार्जन धर्मानुगुण नहीं किया गया तो वह अधोपतन का कारण बनता है। इसी प्रकार कामनाएं भी धर्मानुकूल होनी चाहिए, जिससे मनुष्य वही प्राप्त करेगा जो धर्म सम्मत हो। वस्तुतः धर्म की इतनी व्यापक किंतु लोक कल्याणकारी

व्याख्या भारतीय संस्कृति के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। इसीलिए भगवान् वेदव्यास महाभारत में कहते हैं - **''धर्म अर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ। यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।।''** अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में जो कुछ महाभारत में कहा गया है, वह सर्वत्र उपलब्ध है किन्तु जो महाभारत में नहीं कहा गया वह अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति धर्मानुप्राणित सनातन संस्कृति है।

भारतीय संस्कृति की मान्यता है कि जीवन केवल भोगोपभोग के लिए नहीं अपितु आत्मोन्नति के लिए एक साधन है। ईशादि शताधिक उपनिषद् अध्यात्म शास्त्र का प्रतिपादन करने वाले प्रमुख ग्रन्थ हैं। उपनिषद् के अनुसार यह समस्त चराचर जगत ईश्वर के द्वारा आच्छादित है। जो कुछ जगत में दिखाई देता है वह सब परमात्मा द्वारा ही प्रदत्त है। इसलिए इसका उपभोग हमें यह मानकर करना चाहिए कि यह ईश्वर का अंश है। अध्यात्म प्रवृत्ति से जीवन उन्नत होता है। विविधता में एकता के दर्शन से मनुष्य शोकग्रस्त नहीं होता, ऐसा व्यक्ति प्रतिक्षण आनन्द का अनुभव करता है। भारतीय संस्कृति का मानना है कि - **''अमृतस्य पुत्राः वयम्''** अर्थात् हम ईश्वर की संतान हैं। आत्मा और परमात्मा में अभेद सम्बन्ध स्थापित करना ही भारतीय संस्कृति का चरम उद्देश्य है।

भारतीय संस्कृति में पारलौकिक भावना, सदाचार का पालन करना, वर्णाश्रम व्यवस्था, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम की स्थापना, कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद, मोक्ष प्राप्ति, श्रुतियों की प्रामाणिकता, यज्ञ का महत्व, तपोमय जीवन, माता-पिता और गुरुभक्ति, अतिथि सत्कार, शरणागत वत्सलता, परोपकार, सत्संगति, अहिंसा इत्यादि गुण कूट कूट कर भरे गये हैं। विश्व के कल्याण और जागतिक उन्नति की मूलभूत भावनाएं हमारी संस्कृति में विद्यमान हैं। यदि हम भारतीय संस्कृति के द्वारा दिखाए गए मार्ग का अनुसरण करते हैं तो निश्चित ही अपनी, अपने देश और समस्त विश्व की उन्नति में सहभागी बन सकते हैं। भारतीय संस्कृति की विशिष्टताओं के कारण ही भारत को अनादि काल से विश्वगुरु माना जाता रहा है। आज भी समूचे विश्व में भारतवर्ष की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है तो इसका प्रमुख कारण यहां की संस्कृति है। प्रत्येक राष्ट्र की एक विशिष्ट संस्कृति होती है। इसी में उस देश के व्यवहार, लोकाचार, परम्परा, सभ्यता और रीति के लक्षण प्रतिबिम्बित होते हैं। संस्कृति के प्रचार-प्रसार, संवर्धन और संरक्षण के लिए भाषा की भूमिका महत्वपूर्ण है। भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में यह भूमिका देववाणी संस्कृत भाषा ने भलीभांति निभाई है। यह संस्कृत भाषा ही है जिसने हमें भारतीय संस्कृति और इसके उदात्त विचारों से अवगत कराया। वेदों से लेकर पुराणों तक तथा रामायण-महाभारत से लेकर आधुनिक संस्कृत साहित्य तक भारतवर्ष की विशिष्ट ज्ञान परम्परा संस्कृत भाषा में अक्षुण्ण रूप से विद्यमान है और यही ज्ञान परम्परा युगों युगों से हमारा पथप्रदर्शन करती आ रही है। भारतीय संस्कृति का सर्वप्रथम परिचय वेदों से होता है और ''सर्व ज्ञानमयो हि सः'' के मनुवचन से यह स्पष्ट है कि वेद ज्ञान-विज्ञान के आदि स्रोत हैं, जो संस्कृत भाषा में विद्यमान हैं। इससे यह स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा ही वह कुंजिका है जिसके द्वारा हम भारतीय संस्कृति के कपाटोद्घाटन कर सकते हैं।

सहस्रों वर्षों से लेकर आज तक भी भारतीय संस्कृति न केवल भारतीय जनमानस का अपितु समग्र मानवजाति का पालन और पोषण करती आ रही है। इतिहास में अनेक आक्रान्ताओं ने भारतीय संस्कृति को समूल नष्ट करने का कुत्सित प्रयास किया किन्तु यह संस्कृति अनेकानेक घात-प्रतिघातों को सहती हुई न केवल यथावत बनी रही अपितु और भी सहिष्णु बनकर, और अधिक उदार बनकर इस संस्कृति ने भारतीयता को संपुष्ट करने में अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। ऐसी जीवन्त, सनातन और लोक कल्याणकारी संस्कृति में जन्म लेना निश्चित ही ईश्वरीय अनुकम्पा है। विष्णु पुराण के अनुसार भारतभूमि और इसकी सनातन संस्कृति को देखकर देवता भी मनुष्य रूप में यहां जन्म लेने के लिए लालायित रहते हैं - **''गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे। स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्।।** (2/3/24)'' अतः स्पष्ट है कि अपनी संस्कृति और संस्कृत भाषा पर अभिमान करते हुए हमें इसके संरक्षण, संवर्धन और प्रचार-प्रसार के लिए सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए।

*****

रामदरश मिश्र की ग़ज़लों में लोक संस्कृति और शहरी जीवन

सृष्टि सिंह
पी-एच.डी.- शोध-छात्रा,
डॉ. हरीसिंह गौर केन्द्रीय
विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

रामदरश मिश्र जी का जन्म 15 अगस्त 1924 में गोरखपुर उत्तर प्रदेश में हुआ। इन्होंने अपने लेखन की शुरुआत कविताओं से की, उसके बाद साहित्य की विभिन्न विधाओं में सार्थक हस्तक्षेप किया। रामदरश मिश्र ने कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना के साथ साहित्य की सभी महत्वपूर्ण विधाओं में सार्थक लेखन कार्य किया है। रामदरश मिश्र जी हिन्दी साहित्य के एक महत्वपूर्ण रचनाकार हैं उन्होंने अपनी रचनाओं में लोक संस्कृति और शहरी जीवन की गहनतम पड़ताल की है। हालाँकि उनका अधिकाँश जीवन शहर में व्यतीत हुआ लेकिन बचपन गाँव में गुजरा। बचपन की स्मृतियाँ उनके ज़हन में आज भी मौजूद हैं। दुष्यंत कुमार की आधुनिक ग़ज़ल परंपरा को आगे बढाने में रामदरश मिश्र ने अहम् भूमिका निभाई है। जीवन के उत्तरार्द्ध में उन्होंने ग़ज़लें लिखना प्रारम्भ किया और इस विधा में भी अपनी

महत्वपूर्ण जगह बनाई। मिश्र जी का जीवन ग्रामीण और शहरी दोनों परिवेशों का मिला जुला रूप है। हालाँकि उनकी रचनाओं में गाँव के जीवंत और सकारात्मक चित्र दिखाई देते हैं। जबकि शहर बाज़ारवाद से प्रभावित, मानवीय मूल्यों से विहीन और त्रस्त दिखाई देता है। उनकी ग़ज़लों में बचपन, माँ और ग्रामीण स्मृतियाँ प्रमुख रूप से विद्यमान हैं। इस ग़ज़ल संग्रह की भूमिका में ओम निश्चल लिखते हैं कि "जीवन के आठ दशक लिखने-पढ़ने में गुजार देने के बावजूद यह रामदरश मिश्र ही हैं जो अपनी मिट्टी से अपना नाता नहीं तोड़ते।

'खुले मेरे ख़्वाबों के पर धीरे-धीरे' रामदरश मिश्र की चुनिन्दा ग़ज़लों का संग्रह है जिसका संपादन ओम निश्चल ने किया है। इसका प्रकाशन 2023 में सर्व भाषा ट्रस्ट, नई दिल्ली से हुआ है। इसमें ओम निश्चल ने एक लम्बी और गंभीर भूमिका के साथ 86 प्रतिनिधि ग़ज़लों का संकलन किया गया है। प्रस्तुत संकलन की ग़ज़लें विविधताओं से परिपूर्ण हैं जिनमें रामदरश मिश्र ने अपने गाँव, घर, परिवार, खेत, किसान जीवन का ग्रामीण चित्रण के साथ शहरी जीवन की अनेकों समस्याओं को उद्घाटित करती महत्वपूर्ण ग़ज़लेंहैं। गाँव इन्हें बेहद प्रिय है, वे कई वर्षों से शहर में रह रहे हैं लेकिन अपनी माँ और गाँव की स्मृतियों को कभी भुला नहीं पाये।

"चाहे जहाँ रहा मैं, दूर घर नहीं हुआ
होने को तो हो जाता जुदा, पर नहीं हुआ।
बस गया हूँ दोस्तो, दिल्ली शहर के बीच यों तो
घर मेरा अब भी वही हाँ वही, गोरखपुर जिला है।

उम्मीद मनुष्य को हौसला और जीवन जीने की शक्ति देती है। इस दुनिया में कई ऐसी चीजें भी होती हैं जिन पर निश्चिंतता के साथ कोई दावा नहीं कर सकते लेकिन उम्मीद जरूर कर सकते हैं। मिश्र

जी इस नाउम्मीदी के दौर में उम्मीद के रचनाकार हैं। वे अपनी ग़ज़लों में तमाम निराशाओं के बावजूद उम्मीद की तलाश करते हैं। वे जीवन के अनगिनत अंधेरों और हताशाओं के दौर में भी रौशनी की तलाश करने वाले गज़लकार हैं। वे कहते हैं –

"इसी तरह जो ख़्वाब-ख़्वाब बेजुबाँ होगा
कोई बताए हमें इस सफ़र का क्या होगा
कभी से चल रहे हैं सोचते अँधेरे में
यहाँ नहीं तो, कोई रास्ता वहाँ होगा।

भूमंडलीकरण और बाज़ारवाद की समस्याएँ और चुनौतियाँ भी मिश्र जी की ग़ज़लों का केन्द्र रही हैं। आज घर ही बाज़ार बनता जा रहा है और बाज़ार घरों में आ गया है। बाज़ारवाद का दौर इतना बढ़ गया है कि हम उससे अछूते नहीं रहे हैं। छोटे-छोटे गाँव भी अब बाजार की चपेट में आ गए हैं। गाँव और शहर की छोटी दुकानें अब ठप्प हो चुकी हैं और उनकी जगह बड़े-बड़े शॉपिंग मॉल ने ली है। इससे गरीब मजदूर वर्ग के छोटे दुकानदारों की रोजी-रोटी छिन गई और वे सड़कों पर आ गए। आधुनिक विकास की अंधी दौड़ में हम अपना सब कुछ खोते जा रहे हैं। हमारी रफ़्तार इतनी तेज हो रही है कि सबको पीछे छोड़ते हुए न जाने ऐसा क्या पा लेने की होड़ सी मची है। मिश्र जी इन गंभीर समस्याओं के प्रति अपनी चिंता व्यक्त करते हुए कहते हैं –

"बाज़ार को निकले हैं लोग बेच के घर को
क्या हो गया जाने आज मेरे शहर को
कितने हैं मेहरबान यहाँ के बहेलिये
कहते हैं परिंदों से– 'उड़ो' काट के पर को।

भारत देवी-देवताओं की पत्रिव भूमि है जिसमें असंख्य देवी-देवताओं का वास है। लेकिन अब इस पवित्र देवभूमि आज देखा जाए तो हमारे देश में बाज़ारीकरण का वर्चस्व सिर्फ़ वस्तुओं तक ही सीमित नहीं रहा है। इसकी सीमाएँ लगातार बढ़ती ही जा रही हैं जो मनुष्य के बाजारीकरण तक बढ़ गई हैं। हमारे देश में नाबालिग बच्चियों का दैहिक शोषण और उनकी खरीद फरोख्त इतनी बढ़ गई है जिसके सटीक आँकड़े भी जुटा पाना मुश्किल है। मिश्र जी अपने समय और समाज के एक सचेत और संवेदनशील रचनाकार हैं। वे अपनी रचनाओं में समाज में व्याप्त शोषण, अन्याय, अत्याचार, अनैतिकताओं और कटु सच्चाइयों से वाकिफ़ कराते हैं। वे लिखते हैं कि –

"झुनझुने सा बज रहा है देश यह
देवकुल में फिर कोई पैदा हुआ
पत्थरों की दीठियों में फिर हँसी
क्या कहीं फिर फूल का सौदा हुआ।

भारत गाँव और किसानों का देश है जिसमें सत्तर प्रतिशत से अधिक जनसँख्या गाँव में निवास करती है। किसान जो दिन-रात मेहनत करके देश भर के लोगों का भरण पोषण करते हैं आज उनकी दयनीय स्थिति बनी हुई है। आये दिन फसलों के नुकसान और कर्जदारी के कारण हजारों किसानों की आत्महत्याओं की सूचनाएँ दिल दहला देती हैं। फसलों का समुचित दाम न मिलना और प्राकृतिक आपदाओं के कारण फसलों के नष्ट होने से साल भर की मेहनत बर्बाद हो जाती है जिसके कारण कई किसान आत्महत्या कर लेते हैं। इस तरह की गंभीर समस्याओं से चिंतित मिश्रजी कहते हैं –

"हाथ कुछ आया न, तू फ़सलें उगाता रह गया
चर गए पशु खेत, तू पंछी उड़ाता रह गया।

वर्तमान समाज में बढ़ती हुई हिंसाएँ और लोगों का निर्मम व्यवहार किसी भी स्वस्थ समाज के लिए उचित नहीं है। मिश्रजी अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज में व्याप्त असामाजिक तत्वों की गहन पड़ताल करते हैं।

"खोजते हो तुम शिकारी को कहाँ जंगल के बीच
वह तो पोशीदा कहीं भीतर के अँधियारे में है
मैंने तो किस्सा सुनाया था किसी शैतान का
आपको क्यों शक हुआ यह आपके बारे में है।

जंगल निर्जन और जानवरों के रहवास स्थल का प्रतीक है जिसमें इंसानों का नहीं बल्कि जानवरों का निवास होता है और शहर जिसमें लोगों की भीड़ होती है। शहरों की भीड़ के बावजूद अब उन्हीं शहरों में जंगल जैसी वीरानी महसूस होने लगी है। इस सन्दर्भ में मिश्र जी के दो शेर गौरतलब हैं –

"याद सा आता है जंगल से कभी बिछड़े थे हम
फिर शहर के बीच उससे आज याराना हुआ
तुम अकेले यों खड़े आवाज़ देते हो किसे
इन घनी आबादियों का मन है वीराना हुआ।

रामदरश मिश्र जी अपने जीवन के बारे में बात करते हुए कहते हैं कि यह जीवन का सफ़र काफी लंबा है। इस लंबे सफ़र में उन्हें घर की याद बहुत सताती है, उन्हें घर के आलावा कहीं और चैन से नींद भी नहीं आती। यह घर के प्रति बेचैनी हमें आश्वस्त करती कि उन्हें घर से कितना लगाव है। लोग शहरों जाकर गाँव घर को भूल जाते हैं लेकिन वह मिश्र जी हैं जो घर को अपनी स्मृतियों और रचनाओं में महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। इनकी अधिकांश रचनाएँ गाँव और घर की स्मृतियों में लिखी गई हैं। यह एक संवेदनशील रचनाकार की विशिष्टता है जो अपने बचपन की यादें और उस परिवेश को कभी भुला नहीं पाते हैं। मिश्र जी कहते हैं –

"एक लंबे से सफ़र का सिलसिला है
याद घर की बहुत तड़पाने लगी है
सो नहीं पाता, न जाने कौन रह-रह
किवाड़ों को आज भड़काने लगी है।

रामदरश मिश्र मानवीयता के समर्थक रचनाकार हैं उनके यहाँ जाति, धर्म संप्रदाय आदि का भेदभाव करने जैसी तुच्छ मानसिकता नहीं बल्कि उनके यहाँ मानव धर्म सर्वश्रेष्ठ है। वे हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आदि धार्मिक झंझावातों से परे प्रेम और सद्भाव के प्रबल समर्थक रचनाकार हैं। मिश्र जी जीवन की सरलता और सादगी के रचनाकार हैं। न ही किसी चीज को जल्दी पाने की होड़ है और न ही किसी को गिराकर आगे निकलने की जिद।

"बनाया है मैंने ये घर धीरे-धीरे
खुले मेरे ख़्वाबों के पर धीरे-धीरे
किसी को गिराया न खुद को उछाला
कटा ज़िन्दगी का सफ़र धीरे-धीरे
जहाँ आप पहुँचे छलाँगे लगा कर
वहाँ मैं भी पहुँचा मगर धीरे-धीरे।

"एक लंबे से सफ़र का सिलसिला है
याद घर की बहुत तड़पाने लगी है
सो नहीं पाता, न जाने कौन रह-रह
किवाड़ों को आज भड़काने लगी है।

आधुनिक हिन्दी ग़ज़लों में प्रेम बहुतायत रूप में देखा जा सकता है जिसमें हरेक गज़लकार का कहने का अपना-अपना अंदाज़ है। मिश्र जी की ग़ज़लों में प्रेम सौन्दर्य काअद्भुत चित्रण देखने को मिलता है-

"जीना था जिया किन्तु क्या जिया तेरे बग़ैर
जलना था जल रहा है ये दिया तेरे बग़ैर
पर्वत पे चढ़ा, नभ में उड़ा, सिंधु में तिरा
क्या-क्या न किया किन्तु क्या किया तेरे बग़ैर।

रामदरश मिश्र की ग़ज़लों में प्रकृति और पर्यावरण के संकटों और उनकी समस्याओं पर चिंतित नज़र आते हैं। इनकी ग़ज़लों में सूखते हुए तालाब, नदी, झरने और उजड़ते हुए जंगलों के प्रति गंभीर चिंतन देखा जा सकता है।

"सूख गये हैं ताल-तलैया, तरुवर थरथर काँप रहे
थर्रा सी उठती हैं आँखें, जब-जब वे मुसकाये हैं।

विकास की अंधी दौड़ के प्रभाव से हमारे गाँव के परिवेश और रहन-सहन में काफी परिवर्तन आया है। गाँव के कच्चे घर अब कंकरीट के मकानों में तब्दील हो गए हैं। गली मुहाने देखकर अब किसी का

घर पहचान नहीं आता। शहरों का प्रभाव इतना बढ़ा है कि खाने-पीने से लेकर जीवन के हरेक चीजों में शहरीपन झलकता है। शायद इसीलिए मिश्र जी कहते हैं –

"शहर से लौट आया हूँ लिये ख़ुशबू पुरानी मैं मगर
घर है कहाँ मेरा ये पहचाना नहीं जाता।

आज के समय और समाज में जो गुनाहगार हैं वे खुलेआम घूमते हैं और जिन्होंने कोई गुनाह ही नहीं किया हो वे सलाखों के पीछे कैद हैं। मिश्र जी वर्तमान समाज की यथार्थता से वाकिफ़ कराते हुए कहते हैं कि –

"गुनाहगार अर्थ हँस रहा है बेहया हँसी
बिना गुनाह के ही ये ज़मीन शर्मसार है।
"सुन सको तो सुनो ख़ुद के शोर से बाहर निकल कर
यह जुबाँ है खुशबुओं की, यह गुलों की दास्ताँ है।

रामदरश मिश्र मानवीय सरोकारों के रचनाकार हैं जिसकी झलक उनकी रचनाओं में भी बखूबी देखी जा सकती है। प्रकृति प्रेम और भाईचारे की भावना उनके जीवन और रचनाओं में भी परिलक्षित होती है। उनकी रचनाओं में मानवीयता और प्रकृतिजन्य चीजों के प्रति गहरा लगाव है। प्रकृति और पशु-पक्षियों से वही प्रेम कर सकता है जिसके हृदय में संवेदनाएँ हों, मिश्र जी ऐसे ही रचनाकार हैं जिनमें इस तरह की विशिष्टताएँ मौजूद हैं –

"सुबह-सुबह लोगों में जाना अच्छा लगता है
शाम हुए वापस घर जाना अच्छा लगता है
बज उठते हैं पेड़ प्यार के सरगम पर सहसा
सुबह-शाम चिड़ियों का गाना अच्छा लगता है
अदब सियासत की चिल्लाहट लगती नफ़रत-सी
चुपके-चुपके कलम चलाना अच्छा लगता है।

भारतीय समाज ही नहीं अपितु दुनिया के सभी देशों में अपने धर्म के प्रति गहरी आस्था है। लेकिनआज जो धर्म के नाम पर इंसानों का बँटवारा करते धर्म के ठेकेदार हैं उन पर मिश्र जी तीक्ष्ण प्रहार करते हैं तथा मंदिर, मस्जिदों की धार्मिक राजनीतिके बजाये इंसानियत और मनुष्यता के धर्म का प्रबल समर्थन करते हैं।

"इंसान सिर पर मज़हब की दूकान सजाये बैठे हो सच के शव पर अपने-अपने भगवान सजाये बैठे हो हर ओर उसी का जलवा है, हर ओर उसी की ख़ुशबू है दीवारों के भीतर उसकी पहचान सजाए बैठे हो हिन्दू का है न मुसलमाँ का, जो खून बहा इंसाँ का है तुम कितने-कितने रंगों के इंसान सजाये बैठे हो।

"गुनाहगार अर्थ हँस रहा है बेहया हँसी
बिना गुनाह के ही ये ज़मीन शर्मसार है।
"सुन सको तो सुनो
ख़ुद के शोर से बाहर निकल कर
यह जुबाँ है खुशबुओं की,
यह गुलों की दास्ताँ है।

रामदरश मिश्र जी की गजलें लोक संस्कृति और शहरी जीवन के सामाजिक सरोकार स्थापित करती हैं। मिश्र जी इसे अपनी सहजसाध्य विधा के रूप में नहीं मानते हैं लेकिन गज़लगोई में जिस तरह के नवीन प्रयोग इन्होंने किये हैं उसने हिंदी ग़ज़ल को एक नई उत्कृष्टता प्रदान की है।

ग्रामीण परिवेश की मूल प्रकृति से समझौता किये बिना उसे ग़ज़ल में इस तरह ढाला है कि विधा की मिठास भी बनी हुई है और लोक जीवन का खुरदुरापन भी। मिश्रजी में नवीन क़ाफियों के प्रयोग से अपनी गजलों में ताज़गी भरने का सार्थक प्रयास किया है। मिश्रजी का यह संकलन विषयवस्तु और शैली दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण है।

*****

रामधारी सिंह दिनकर और सुब्रह्मण्यम भारती की कविताओं में राष्ट्रीय चेतना

डॉ. राजलक्ष्मी कृष्णन,
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर
अन्ना आदर्श महाविद्यालय,
अन्ना नगर, चेन्नई

हिन्दी के आधुनिक राष्ट्रीय कवियों में रामधारी सिंह दिनकर का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। उनकी रचनाओं में देशप्रेम और विश्वप्रेम की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। स्वतंत्रता आंदोलन के समय वे बहुत ही सक्रिय राष्ट्रकवि थे। भारतीय संस्कृति के अग्रदूत, राष्ट्रकल्याण के धर्मनिष्ठ साधक विकृतियों के अभिशाप में प्रचण्ड पौरुष के तप-तेजवाले कवि दिनकर भारत की विभूति है। उनकी कविताओं से राष्ट्र के प्रति ममता, प्रेम और अगाध प्यार है। उनकी कविताएँ राष्ट्रीय प्रेम से ओत-प्रोत है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद वे देशवासियों से कहते हैं कि हमें देश की आजादी को बनाये रखना है।

"स्वाधीन हुआ किस लिए
गर्व से ऊपर शीश उठाने को?
पशु के समान अथवा खूँटे पर,
घास पेट भर खाने को
उस रोटी को धिक्कार
बचे जिससे मनुष्य का मान नहीं।"

कवि दिनकर ने अपने कुरुक्षेत्र ग्रन्थ में युद्ध की भीषणता, युद्ध का दुष्परिणाम, सामाजिक, आर्थिक राजनैतिक समस्याओं आदि का जीता-जागता उदाहरण प्रस्तुत किया है। राष्ट्रीयता, विश्वप्रेम और तमिलभाषा के राष्ट्र कवियों में सुब्रह्मण्य भारती का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है और विश्वबन्धुत्व की भावना की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। जब वे कुरुक्षेत्र काव्य की रचना कर रहे थे उस समय हिरोशिमा और नागासाकी पर परमाणु बमों का पहले पहल विस्फोट हुआ था। आज यूरोप और अमेरिका के बड़े-बड़े वैज्ञानिक इस बात पर गंभीरतापूर्वक विचार कर रहे हैं और सोच रहे हैं कि इस संसार को कोई ऐसा कानून बनाना चाहिये जो ऐसे खतरनाक आविष्कारों पर रोक लगा सके। रामधारी सिंह दिनकर जी कहते हैं कि बीती हुई बात पर सोच विचार करना और समय व्यर्थ करना बुद्धिमानी नहीं है।

आजादी की लड़ाई में जब अंग्रेजों का दमन-चक्र जोरों से चल रहा था तब दिनकर जी ने 'प्रतिकूल' शीर्षक एक कविता लिखी :-

उन्नत सिर पर जब वन दो सवा का प्रहार,
सोओं तब तक जाज्वल्यमान मेरे विचार
तब भी आशा मत मर, करे पीयुस पान
वह जिए सोच मेरा प्रयास कितना महान
बुझती है केवल शिखा, कभी बुझती न आग।

इस कविता के द्वारा उन्होंने लोगों को आशा और विश्वास का संदेश दिया है। हिन्दी भाषा साहित्यकार रामधारीसिंह दिनकर के समान तमिल भाषा के क्षेत्र में व्यक्तिगत रूप से सुब्रह्मण्य भारती भारत के पूर्ण स्वराज्य की कामना करने वाले कवि थे। उन्हें गुलामी से बहुत ही चिढ़ थी। सोने के पिंजड़े में बंद रहना वे नहीं पसंद करते थे। खुले आसमान में वे स्वतंत्र पक्षियों की तरह उड़ना पसंद करते थे। परतंत्र भारतवासियों के दुःख को देखकर उनका मन छटपटा उठता था। कवि रामधारी सिंह दिनकर के समान उनका भी प्रधान लक्ष्य भारतवासियों को आजादी दिलाना था। स्वतंत्रता की इस अदम्य चाह को, लालसा को सभी भारतीय साहित्यकारों और कवियों ने अपनी कविता के माध्यम से प्रकट किया। भारती ने आजादी से संबंधित कई कवितायें लिखीं हैं। उदाहरण के लिए-

ज्ञान में परतत्व की अनुभूति में, ऊँचे मानाभिमान में अन्नदान में,
गान में, अमृतभरी उनकी कविता में हम उन्नत हुए-
यह हमारा भारत देश है

संसार में श्रेष्ठ यह देश हमारा भारत है।

भारत माता की गौरव महिमा को पुलकित होकर भारती जी अभिनंदन करते हैं। वे कहते हैं कि हम संपत्ति, वीरता, तेज, ज्ञान आदि खोकर निस्तेज हो गए हैं। वेदना और दुःख से वे पीड़ित हैं।

उनकी एक और कविता को देखिए-
"मन बेचैन हो रहा – आज
दुरवस्था को प्राप्त मानव को सोचकर।"

तमिलनाडु के एट्टैयपुरम (भारती का जन्मस्थान) में 1948 में उनका एक 'मणिमंडपम' बनाया गया। संपूर्ण भारतवर्ष में 11 दिसम्बर को उनका शताब्दी समारोह मनाया जाता है। भारती द्वारा लिखी गई राष्ट्रीय एकता पर "भारत समुदायम वाल्गवे" का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है।

"तमिल मुप्पदु कोटि जनंगलिन संगम
मुलैक्कुम पोदु उडैमै
ओप्पिल्लाद समुदायम उलगत्तुक्कोक पुदुमैबाल्ग भारत समुदायम् वाल्गवे।"

हिन्दी में – तीस कोटि जन समाज

अधिकार यहाँ की सब संयत पर
अद्वितीय यह रूप, देश का, होगा जग के रंगमंच पर तेरी जय हो (तीन बार)

इसी प्रकार 'भारती' का एक ही नारा था- "सबका कुल एक है सब की जाति एक है।"

बच्चों के लिये लिखी एक कविता "पाप्पा-पाट्टु" में कवि ने इस बात का जिक्र किया है।

जातिगल इल्लैयडी पाप्पा
कुल तारच्ची उयर्च्ची चोल्लल पाव

अर्थात् बच्चों, वास्तव में जाति नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। नीच कुल, उच्चकुल ऐसा बोलना ही पाप है। महाकवि भारती ने लोगों के मन में यह बात बिठा दी थी कि जाति और धर्म की बात हमारी अपनी है। इसमें विदेशियों का हस्तक्षेप कैसे हो....।

सहस्र जाति का देश हमारा,
चाहेगा संबल न तुम्हारा
माँ के एक गर्भ से जन्मे
रे विदेशियों भेद न हम में।
मनमुटाव से क्या होता है
हम भाई-भाई ही रहेंगे
हम वन्दे मातरम कहेंगे।

तमिलनाडु में महाकवि भारती ने स्वदेशी दोलन को सफल बनाने में जी-जान से प्रयत्न किया। उन्होंने अपनी मासिक पत्रिका चक्रवर्तिनी को स्वदेशी आंदोलन का संदेशवाहक बनाया। वन्दे मातरम गीत का तमिल अनुवाद कर उसे अपनी पत्रिका में प्रकाशित किया, साथ ही स्वयं भी वन्देमातरम शीर्षक पर एक मौलिक कविता लिखी। उनकी कविताओं में राष्ट्रभक्ति और मातृभाषा प्रेम दोनों का समान स्थान है। जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी यह उनका सिद्धांत था। महाकवि भारती एक राष्ट्रीय कवि, सफल पत्रकार, और सफल लेखक थे। उन्होंने अपनी कविताओं द्वारा भारत को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया है। वे एक आदर्श समाज की स्थापना करना चाहते थे। जहाँ सबका समान अधिकार हो, जहाँ बैर की भावना न रहे, सिर्फ प्रेम और भाई-चारे की भावना रहे। महाकवि भारती ने अपनी कविता में यह स्पष्ट लिखा कि जियेंगे तो एक होकर और मरेंगे तो एक होकर। हममें कोई भेदभाव नहीं है। वे भारत को स्वतंत्र देखना चाहते थे और हमारी स्वतंत्रता की भविष्य वाणी उन्होंने बहुत पहले ही घोषित कर दी थी।

"आडुवोमे पल्लु पाडुवोमे
आनंद सुनन्दिरं अडैन्दु विट्टोम्।"

भाव – आओ नाचें, गायें, ये खुशी का अवसर है।
हमने आजादी प्राप्त कर ली है।

11 सितम्बर 1921 की सुबह करीब डेढ़ बजे महाकवि भारती अपने पार्थिव शरीर को त्यागकर स्वर्ग सिधार गये। यद्यपि भारती जनता के कवि थे, एक महान राष्ट्र-भक्त और स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी थे और राष्ट्रीय कवि थे परन्तु उनके अंतिम यात्रा पर केवल चौदह लोग ही थे, यह बहुत ही दुःखद घटना है। तमिल भाष्य की जय और तमिल जनता की जय भारती के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, साथ में भारत भूमि की भी वे जय बोलते हैं। उनके अनुसार राष्ट्रीयता और जातीयता दोनों ही एक दूसरे जुड़ी हुई है। तमिल मूर्तियाँ, तमिल कहावतें, तमिल प्रकृति से उन्हें

विशेष लगाव था इसलिए वे राष्ट्रीय कवि होने के साथ-साथ तमिलनाडु के भी विशेष कवि थे।

रामधारी सिंह दिनकर को राष्ट्रकवि, युगकवि आदि सिद्ध करने के लिए सैकड़ों समीक्षा पुस्तकें हैं। उर्वशी में उन्होंने प्रेम का एक संतुलित व्यावहारिक और सार्थक दर्शन दिया है। इसमें उन्होंने 'उर्वशी' एक ऐसी ही नारी के विद्रोह को प्रकट किया है जिसमें यदि पति अपने शर्तों को पूरा करने में असफल होता है तो वह पूर्व निर्धारित समाधान के अनुसार वापस स्वर्गलोक चली जाती है। कवि दिनकर की 'हुँकार' एक ऐसी ही रचना है जिसमें विप्लव और विद्रोह की हुँकार है। इनके विषय में श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने ठीक ही लिखा है-क्रांतिकारियों को जिन जिन हृदय मंथनों से गुजरना होता है, दिनकर की कविता उसकी सच्ची तस्वीर है। 'हिमालय' कविता द्वारा उन्होंने सोये हुए लोगों को जगाने का प्रयत्न किया है।

"कितनी मणियाँ लुट गई
कितना मेरा वैभव अशेष।
तू ध्यान मग्न ही रहा इधर
वीरान हुआ प्यारा देश"
कवि आगे कहते हैं कि-
"तू मौन त्याग कर सिंह नाद
रे तपी आज तप का न काल.
नव युग शंख ध्वनि जगा रही
तू जाग जाग मेरे विशाल।"

उनका कहना था कि संकट के समय अपने को संपूर्ण रूप से राष्ट्र के लिए समर्पित करना ही राष्ट्र-भक्तों का महान-धर्म है। वे कुर्बानी की भावना को इस प्रकार प्रकट करते है-

"छोड़ो मत अपनी आन, शीश कट जाए
मत झुको अनय पर भले व्योम फट जाए
दो बार नहीं यम राज कंठ धरता है
मरता है जो वह एक बार मरता है।"

दिनकर के हर काव्य में अपार प्रेम और राष्ट्रभक्ति गोचर होती है। उन्होंने चार दशक तक राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत काव्य लिखे हैं। रेणुका, सामधेनी में पौरुष से पूर्ण कविताएँ मिलती है। अपने देश में किसानों की दीन-हीन दशा को देखकर वे बहुत ही व्यथित रहे। वे कितना दर्दनाक जीवन व्यतीत कर रहे हैं इसका उन्होंने वेदना से पूर्ण कविता लिखी हैं। वे भी यहीं दूध से जो अपने श्वानों को नहलाते हैं। ये बच्चे भी यहीं, कब्र में, दूध दूध चिल्लाते हैं। दिनकर जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व इतना अनुपम है कि देश के संसद के सेंट्रल हाल में उनका तैल चित्र लगाकर संसद ने उन्हें सम्मानित और गौरवान्वित किया है। 24 अप्रैल 1974 को दक्षिण की इसी नगरी में उनका स्वर्गवास हुआ इसीलिए चेन्नै में उनका स्मरण करना ही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि है। उनकी राष्ट्रभक्ति, ओज, प्रतिभा एवं साहित्यिक योगदान को देखकर उस समय के प्रधान मंत्री जवाहर लाल नेहरू ने उन्हें सन् 1952 में राज्यसभा के लिए मनोनीत किया एवं 18 वर्षों तक वे राज्यसभा के सदस्य रहे। कवि की इच्छा है कि समस्त मानवता एक परिवार बने धर्म-भिन्नता मानव के विकास में अवरोधक न हो और एक बार फिर से विश्व में अखण्ड व्यापक एवं मानवता का स्वर्गिक प्रकाश फैले। वे चाहते थे कि भारत का हर व्यक्ति जीवन के प्रति जागरूक एवं कर्मशील बने। उनका युग पूर्ण रूप से राष्ट्रीयता औऱ क्रान्ति का युग था। उन्होंने राष्ट्रीय कविताएँ अनेक रूपों औऱ अनेक स्वरों में लिखीं एक ऐसी ही कविता प्रभावी है।

रे प्रवासी जाग, तेरे देश का संवाद आया।
भेद भय संदेश सन पुलकित खगों ने चंद्रखोली
दूर प्राची की वटी से विश्व का तृण तृण जगाते।

भारत के स्वतंत्र होने पर उन्होंने गणतंत्र का जन्म शीर्षक कविता लिखी। उनकी पंक्ति सिंहासन खाली करो कि जनता आती है यह हिन्दी क्षेत्र में नारा बन चुकी है। मारीशस के सांस्कृतिक मंत्री लीला गुजधर स्वरूप ने उनके द्वारा रचित काव्य रश्मिरथी काव्य का अंग्रेजी में अनुवाद किया। सन् 2012 में राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी ने 21 कवि और लेखकों को रामधारी सिंह दिनकर साहित्य रत्न सम्मान से विभूषित किया।

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि रामधारी सिंह दिनकर और महाकवि सुब्रह्मण्य भारती की रचनाओं और कविताओं में प्रेम, आत्मविश्व, सामाजिक न्याय, संघर्ष और राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति हुई है। इन दोनों कवियों की साहित्य सेवा और राष्ट्रप्रेम अविस्मरणीय है।

*****

अभिनय की परंपराएँ और सिद्धांत

आलोक शुक्ला
वरिष्ठ रंगकर्मी, लेखक,
निर्देशक एवं पत्रकार

अभिनय मनुष्य के भीतर मौजूद भाव-जगत का वह कलात्मक और सृजनात्मक रूप है, जो दृश्य माध्यम के द्वारा जीवन, अनुभव और कल्पना को अभिव्यक्त करता है। इतिहास के आरंभिक चरणों से ही मनुष्य ने कथा, गीत, भंगिमा, नृत्य और संवाद के माध्यम से स्वयं को व्यक्त किया। कालांतर में जब रंगमंच का विकास हुआ, तो अभिनय कला न केवल अधिक व्यवस्थित और अनुशासित हुई, अपितु उसके दर्शन, सिद्धांत और शैलियों पर भी गंभीर चिंतन आरंभ हुआ। विश्व रंगमंच के अध्ययन में अभिनय सिद्धांतों को मूल रूप से दो परंपराओं में विभाजित किया जा सकता। पहला अभिनय की भारतीय परंपरा और दूसरा अभिनय की पश्चिमी परंपरा। दोनों परंपराओं की विचारभूमि, संवेदना, उद्देश्य, कलानुभूति और अभिव्यक्ति में स्पष्ट भिन्नताएँ हैं। भारतीय परंपरा का केंद्र-भाव रसानुभूति है, जबकि पश्चिमी परंपरा अधिकतर यथार्थ, मनोविज्ञान, समाज और चेतना पर आधारित है।

भारतीय अभिनय परंपरा

भारतीय अभिनय सिद्धांत का मूलाधार भरतमुनि का नाट्यशास्त्र है नाट्यशास्त्र की रचना भरत मुनि द्वारा की गई थी, जिसे लगभग 200 ईसा पूर्व से 200 ईस्वी के मध्य माना जाता है। इसे 'पंचम वेद' के रूप में जाना जाता है, जिसे ब्रह्मा जी ने ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस तत्व लेकर रचा था और यह नाट्य कला पर पहला प्रामाणिक ग्रंथ है इसके बाद ही दुनिया में अभिनय संबधी किसी अन्य रचना की जानकारी मिलती है।

नाट्यशास्त्र के अब केवल 36 या 37 अध्याय हैं, जिसमें नाट्य अभिनय, रस, नृत्य, संगीत और रंगमंच के नियम बताए गए हैं यद्यपि कहा जाता है कि इसके सौ अध्याय थे। नाट्यशास्त्र का मूल उद्देश्य देवताओं के मनोरंजन के लिए अभिनय के माध्यम से ज्ञान प्रदान करना था, जो समय के साथ लौकिक साहित्य का हिस्सा बना। भारत सरकार के अथक एवं निरंतर प्रयास के परिणामस्वरूप भरतमुनि के नाट्यशास्त्र को यूनेस्को ने 'मेमोरी ऑफ दि वर्ल्ड रजिस्टर' में शामिल किया है। यह ग्रंथ केवल अभिनय का ही नहीं, बल्कि संगीत, नृत्य, रंगमंच-निर्माण, दर्शक-भाव, वाद्य-रचनाओं, अलंकारों और सौंदर्यशास्त्र का भी विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करता है। भारतीय परंपरा में अभिनय को चार भागों में विभक्त किया गया—

(1) अंगिक अभिनय

अंगिक अभिनय का आधार शरीर है। इसमें नेत्रों, भौंहों, हाथ-पाँवों, मुखाभिनय, चाल-ढाल, आसन, मुद्राएँ और भंगिमाएँ सम्मिलित हैं। भारतीय शास्त्रीय नृत्य परंपराएँ—भरतनाट्यम, कथकली, ओडिसी, कथक आदि—अंगिक अभिनय की उत्कृष्ट मिसाल हैं।

(2) वाचिक अभिनय

वाचिक अभिनय में संवादों का उच्चारण, स्वर-सामंजस्य, ध्वनि, लय, ठहराव, उच्चारण की शुद्धता और संगीत की भूमिका आती है। भारत में काव्य-संस्कृति की दीर्घ परंपरा होने के कारण वाचिक अभिनय सदियों तक अत्यंत विकसित और प्रभावी रूप में उपस्थित रहा।

(3) आहार्य अभिनय

आहार्य में वेशभूषा, आभूषण, अलंकरण, मेकअप, पोशाक, दृश्य-प्रस्तुति और रंग-रूप का समावेश होता है। भारतीय परंपरा में नाटकीय चरित्रों को

दृश्यगत पहचान देने के लिए आहार्य तत्वों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

(4) सात्त्विक अभिनय

यह अभिनय का सर्वोच्च रूप माना जाता है। सात्त्विक का संबंध मनोभावों, आंतरिक संवेदना और मनोदैहिक प्रतिक्रियाओं से है जैसे—रोमांच, रुदन, हर्ष, थरथराहट, विस्मय आदि। यह अभिनय तभी पूर्ण होता है जब अभिनेता स्वयं भीतर से अनुभूत भाव को दर्शक तक संप्रेषित कर सके।

रस और भाव की संकल्पना

भारतीय अभिनय शास्त्र की सबसे महत्वपूर्ण अवधारणा रस है। रस का मूल अर्थ 'अनुभूति' या 'आस्वाद' है। जो इस प्रकार हैं—

श्रृंगार, वीर, रौद्र, करुण, हास्य, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शांत। रसों के साथ भाव, स्थायी भाव, संचारी भाव, सात्त्विक भाव और व्यभिचारी भाव का विस्तृत विज्ञान है। दर्शक जब मंच या अभिनय से प्रभावित होते हैं, तो उनके मन में रस जागृत होता है और यही भारतीय अभिनय परंपरा का उद्देश्य है। इस सिद्धांत में कला का उद्देश्य मनोरंजन के साथ-साथ आत्मिक एवं सौंदर्यबोध की अनुभूति कराना है।

पश्चिमी अभिनय परंपरा

पश्चिमी अभिनय सिद्धांत मुख्यतः उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में विकसित हुए। वहाँ अभिनय को मनोवैज्ञानिक और सामाजिक दृष्टि से देखा गया। अभिनय यहाँ चरित्र निर्माणकी कला है, जहाँ अभिनेता को चरित्र के जीवन, व्यवहार, इच्छाओं और संघर्षों में उतरना पड़ता है।

स्टानिस्लावस्की और यथार्थवादी अभिनय

रूसी रंगकर्मी कॉन्स्टेंटिन स्टानिस्लावस्की ने अभिनय को जीवन-सत्य और वास्तविकता से जोड़ा। उनके अनुसार अभिनेता को स्वयं को उस परिस्थिति में कल्पित करके अभिनय करना चाहिए जिसमें अभिनेता ये सोचे कि "यदि मैं इस पात्र की स्थिति में होता तो क्या करता?" इसे उन्होंने "मैजिक इफ" कहा। इसके साथ उन्होंने भाव-स्मृति का प्रयोग किया, जिसमें अभिनेता अपने निजी जीवन के अनुभवों से भाव लेकर पात्र में ढालता है। ये पद्धति मैथड एक्टिंग के रूप में प्रसिद्ध है।

ली स्ट्रासबर्ग और मेथड

अमेरिकी रंग शिक्षक ली स्ट्रासबर्ग ने मेथड एक्टिंग को चरम रूप में प्रस्तुत किया। अभिनेता अपने निजी दुख, पीड़ा, स्मृति और संवेदनाओं को अभिनय में इस स्तर तक उतारता है कि वह चरित्र के भीतर पूरी तरह विलीन हो जाता है। आधुनिक वैश्विक सिनेमा में यह शैली प्रभावशाली रूप से स्वीकार की गई।

ग्रोटोव्स्की का पुअर थियेटर

पोलिश थिएटर प्रयोगकर्ता ग्रोटोव्स्की ने रंगमंच से सजावट और भौतिक तामझाम हटाकर शुद्ध अभिनय और दर्शक-अभिनेता के संबंध को मुख्य केंद्र बनाया। उनके अनुसार" अभिनेता का शरीर ही उसका पवित्र साधन है।"

ब्रेख़्त और एपिक थियेटर

जर्मन रंगचिंतक, कवि बर्टोल्ट ब्रेख़्त ने अभिनय को राजनीतिक और सामाजिक विमर्श का साधन बनाया। उन्होंने दर्शक को भावुक कर सम्मोहित करने के बजाय सोचने और प्रश्न करने की दिशा में प्रेरित किया। उनका वी-इफेक्ट (विच्छेदन प्रभाव) दर्शक को पात्र से दूरी बनाकर देखने की चेतना देता है।

पीटर ब्रुक और रिक्त मंच

ब्रिटिश निर्देशक पीटर ब्रुक ने अपनी प्रसिद्ध अवधारणा दि एंप्टी स्पेस में कहा कि नाटक के लिए केवल अभिनेता और दर्शक पर्याप्त हैं। मंच की पवित्रता, मौन और ऊर्जा उनके यहाँ केंद्रीय स्वरूप ग्रहण करती है।

तुलनात्मक विवेचन

भारतीय परंपरा का केंद्र भाव-रस और सौंदर्यशास्त्र है। अभिनय यहाँ एक आध्यात्मिक और सौंदर्यात्मक क्रिया है। वही पश्चिमी परंपरा मनोवैज्ञानिक स्तर पर सामाजिक और यथार्थवादी विमर्श को प्रमुखता देती है। भारतीय सिद्धांत दर्शक की आस्वाद क्षमता पर बल देते हैं, जबकि पश्चिमी सिद्धांत अभिनेता की चरित्र-निर्माण क्षमता पर आधारित हैं। दोनों परंपराएँ परस्पर विरोधी नहीं, अपितु एक दूसरे की पूरक हैं।

इसके अनुसार हम कह सकते हैं कि अभिनय की कला मनुष्य की संवेदना, विचार, अनुभूति और अनुभव का सम्मिलित संसार है। भारतीय अभिनय परंपरा जहाँ दर्शक में रसोत्पत्ति को लक्ष्य मानती है, वहीं पश्चिमी अभिनय परंपरा अभिनेता की मनोविज्ञान-प्रधान यात्रा को मुख्य मानती है।

आज के वैश्विक रंगमंच और सिनेमा में दोनों परंपराएँ एक-दूसरे से संवाद करती हुई नई संभावनाएँ निर्मित कर रही हैं। इस प्रकार अभिनय निरंतर अपने समय, समाज और मनुष्य की बदलती संवेदनाओं के साथ विकसित होता रहता है।

*****

संस्कृति- संस्कार और समाज

गोवर्धन यादव
साहित्यकार
मुलताई, मध्य प्रदेश

भारत की जिस संस्कृति का यशोगान विदेशी विद्वान ही नहीं. सामान्य जन भी करते रहे या करते हैं, उसके तत्वों को गहराई से समझने की आज आवश्यकता है, क्योंकि विज्ञान के इस युग में भारत की संस्कृति और परंपरा को पिछड़ी हुई तथा अवैज्ञानिक बताने की कोशिशों ने पढ़े-लिखे भारतीयों को एक भ्रमित धारणा स्वीकार कर लेने की विवशता पैदा की है। इस पराधीन मानसिकता से उबरने के बाद ही हम भारत की एक नई तस्वीर प्रस्तुत कर सकेंगे।

भारतीय संस्कृति संस्कारों का राष्ट्रीय सम्मुचय है। जीवन को आदर्श रूप में जीने के लिए जो संस्कार व्यक्ति के लिए उपादेय और लाभकारी अनुभव होते हैं, वे समय के अन्तराल के साथ, पूरे समाज द्वारा अंगिकृत कर लिए गये। जब वही संस्कार पूरे राष्ट्रीय जीवन में अभिव्यक्ति पाते हैं और राष्ट्रीय जीवन को संचालित करते हैं, तब उसे संस्कृति के नाम से अभिहित किया जाता है। इसलिए राबर्ट एलिएट जैसे विद्वान" हिन्दू धर्म को नैतिक आचरण की राष्ट्रीय अभिव्यक्ति कहते हैं." इससे एक स्पष्ट संकेत तो मिलता ही है कि भारतीय धारणा में धर्म का अर्थ वह अर्थ तो कदापि नहीं है जो सामान्यतः "रिलीजन या मजहब" शब्द से ध्वनित होता है। यह भी उल्लेख करना समीचीन होगा कि भारत में धर्म में विराट परिप्रेक्ष्य में संस्कृति को उसके अन्तर्भूत माना है, जबकि विदेशी चिन्तन में संस्कृति (कल्चर.) को धर्म (रिलीजन) से ज्यादा व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया। इससे धर्म और संस्कृति की समझ की भिन्नताओं को आसानी से समझा जा सकता है। धर्म निरपेक्षता का सिद्धांत भी पश्चिम चिन्तन के कारण पैदा हुआ। भारत में राज्य से ही क्या, समाज और व्यक्ति से भी धर्मनिष्ठ आचरण करने का आग्रह प्रबल रहा।

भारत में व्यक्ति के संस्कारों का परिष्कार अनिवार्य समझा जाता है. सोलह संस्कार उस धार्मिक विधान को सुदृढ़ बनाने के लिए निर्धारित किये गये जो व्यक्ति से समाज और समाज से सृष्टि ही नहीं परमेष्टि तक यात्रा संभव बनाते हैं। व्यक्ति और समाज के रिश्तों पर बहुत विस्तार से चिन्तन इस देश में हुआ है। पश्चिम में तो पन्द्रहवी शताब्दी के विचारक थामस हाब्ज ने मानव-मन का विश्लेषण करते हुए मनुष्य की आदिम वृत्तियों की चर्चा की थी। यद्यपि उसका उद्देश्य राजतंत्र की रक्षा था और उसी से प्रेरित होकर उसने राजा की असीम शक्तियों के सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। संभव है कि उसे बाइबिल के इस वाक्य से प्रेरणा मिली हो कि मनुष्य पापी है, लेकिन भारत में सामान्य जन की प्राकृत वृत्तियों की मीमांसा बहुत पहले हो चुकी थी। इस विश्लेषण में राजा और प्रजा के बीच विभेद नहीं किया गया।

भागवत में राजा वेन की कथा का उल्लेख आता है। उसके अत्याचारों और दुष्कर्मों से कुपित होकर ऋषियों ने श्राप देकर उसे मार डाला। राजा तो मर गया लेकिन प्रजा को चोर,लुटेरे, हत्यारे परेशान करने लगे। समाज में अराजकता फ़ैल गई। ऋषिगण ब्रह्मा के पास पहुँचे और सहायता की याचना करने लगे। तब उन्हें ब्रह्माजी ने सलाह दी कि राजा वेन के मृत देह का मंथन करो। उससे उत्पन्न होने वाले जिस देहधारी को प्रजावत्सल समझो, उसे ही राज सिंहासन पर बिठा दो। ऋषियों ने शव का मंथन किया। उसमें से भयानक देहधारी निकले जिन्हें राज सिंहासन के योग्य नहीं समझा। अंत में पृथु उत्पन्न हुए। उनकी सौम्यता से प्रभावित होकर ऋषियों ने उन्हें पृथ्वी का राज्य सौंपा।

यह पौराणिक कथा दो बातों की ओर इशारा करती है। यदि चयन में असावधानी हो जाय तो राजा

भी अनाचारी-अत्याचारी हो सकता है और राजा की अनुपस्थिति में अराजक तत्व उभर आते हैं, जिनसे प्रजा को उत्पीड़न झेलना पड़ता है। इन दोनों स्थितियों में मनुष्य की प्राकृत प्रवृत्तियों का चित्रण और विश्लेषण है। इसी तरह पापी और निरंकुश राजा को दण्डित करने का अधिकार उन ऋषियों के हाथों सुरक्षित रखा गया जिनका कोई निहित स्वार्थ नहीं होता दूसरा और ज्यादा महत्वपूर्ण संकेत मृत राजा के देह का मंथन प्रक्रिया से मिलता है। अर्थ क्या है? मंथन आवश्यक है यानी संस्कारों का परिमार्जन। मनुष्य के भीतर ही देवी और आसुरी वृत्तियां होती हैं, लेकिन संस्कारित व्यक्ति ही राजा पृथु की तरह राज्याभिषेक का वास्तविक अधिकारी हो सकता है। चयन में सतर्कता का तत्व लोकतंत्र में ज्यादा सार्थक है।

पश्चिमी मनोविज्ञान मनुष्य की वृत्तियों के उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) की बात स्वीकार कर चुका है, लेकिन भारत में तो संस्कारों के परिमार्जन की बात हजारों वर्ष पूर्व कही गई। इसी आधार पर नर में नारायणत्व की संभावना तलाशी गई। भारतीय लोकमानस में बाल्मीकि की बात उन्हें छू गई और साधना में लीन हुए। अर्थात संस्कारो के परिमार्जन के बाद एक डाकू विश्व का प्रथम कवि बन जाने की संभावना को समेटे है। रामकथा के इस गायक महर्षि ने साहित्य में तो कालजयी रचना का सृजन किया ही, पर समाज को ऐसा पात्र उप्लब्ध करा दिया, जिसे हम भारतीय संस्कृति का प्रतीक स्वीकार करने लगे। इस लोक-धारणा के पीछे जन-शिक्षण की परंपरागत प्रणालि ध्वनित होती है, जिसमें धर्म के बंधन के अधीन मनुष्य को करणीय और अकरणीय का, सद् और असद् का विवेक समझाया गया।

मैं पुनः संस्कार आधारित संस्कृति के उस सशक्त प्रवाह की ओर लौटता हूँ, जिसने काल के क्रूर आघातों को सह कर भी, अपने अस्तित्व को कायम रखा। उदाहरण स्वरुप भक्तिकाल (अर्थात हिन्दी साहित्य का मध्यकाल) की सामाजिक स्थिति को सामने रखा जा सकता है। तुलसी, सूर, कबीर से लेकर मीराबाई तक के काव्य में एक सचाई बार-बार उभरती है कि वे समाज के संकट के समय एक आश्रय देने का प्रयास कर रहे हैं। राम हों या कृष्ण, भक्त कवियों ने संघर्षो से परेशान जनता को एक संबल प्रदान किया था और भारत के आस्थावादी समाज को विघटन से बचाया था।

भारत में कर्म, ज्ञान और भक्ति की तीन धाराओं का प्रचलन अत्यन्त प्राचीन समय से रहा है. वेद, उपनिषद और पुराण इन धाराओं के प्रतिनिधि ग्रंथ हैं।

सच पूछा जाए तो सगुण भक्त कवियों ने महर्षि वेद व्यास रचित भागवत पुराण के सन्देश को- मृत्यु से अभय-जनता की अपनी भाषा में जन-जन तक पहुँचा दिया। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि उस काल में देश की सभी भाषाओं में कवि-गण एक ही दिशा में काम कर रहे थे। क्या इसे भारत की राष्ट्रीयता का स्वर नहीं कहा जा सकता? संस्कारों में निरन्तरता अनिवार्य समझी जाती है, व्यक्ति के संस्कार तनिक असावधानी से या उसकी प्राकृत वृत्ति के उभर जाने के कारण लुप्त हो जाते हैं।

फ़्रेडरिक फ़िशर ने गांधी जी के बारे में अन्तरंगता से किए गए अनुभव को अपनी पुस्तक-" दैट स्ट्रेंज लिटिल ब्राउन मैन" में लिखा था-" यदि गांधी ने सत्याग्रह और अहिंसा से साम्राज्यवाद से मुक्ति की बात, किसी यूरोपीय देश में लोगों से की होती तो वे, उसे पागल करार देकर उसकी बात अनसुनी कर देते। परंतु भारतीय संस्कारों में ये दोनों तत्त्व गहराई से मौजूद थे. इसलिए वे भारत की जनता के प्रिय नेता बन गए।" गांधीजी ने जनता के शुभसंस्कारों को जगा दिया। मनुष्य के छः शत्रुओं की बात बार-बार कही जाती रही-काम, क्रोध, मद, मोह,लोभ और मत्सर। भक्ति युग के संस्कारों का पुनर्जागरण किया। सैकड़ों वर्ष बाद भी हम श्रद्धा पूर्वक उनका स्मरण करते हैं। उनके गीतों को गाते-गुनगुनाते हैं. इसके विपरीत उसी दौर के बादशाहों का नाम या तो इतिहास के पन्नो में दबा है या दुष्प्रवृत्ति से ग्रस्त लोगों की जुबान पर। ठीक इसी काल में कबीर समाज को जड़बद्ध बनाने वाली प्रवृत्तियों पर प्रहार करते दिखाई देते हैं। यह आध्यात्मिक साधना को किसी मन्दिर-मस्जिद के कटघरे में कैद नहीं बताते। चेतना की यह स्वतंत्रता भारतीय संस्कारों का मूल स्त्रोत है। इससे पुनः सिद्ध होता है कि भारत में धर्म को व्यापकता रूप से समझने की कोशिश की गई। हमारे यहाँ धर्म में बाह्याडम्बरों को कोई स्थान

नहीं है। असीम को पाने के लिए "ससीस" दृष्टि काम नहीं देती। असीम जो सीमातीत है, जिसे केवल वही दृष्टि देख सकती है, जो क्षितिज के पार देखने की क्षमता अर्जित कर लेती है। यह साधना से ही संभव है और साधना का पहला चरण संस्कारों का रोपण है।

भारत में ऋषियों का चिन्तन प्रकृति की गोद में हुआ। इनकी तपःस्थली या तो घोर जंगलों के बीच थी, या किसी पर्वत की गुफ़ा में, प्रकृति के सुरम्य रूप को भी देखा और उसकी विनाशकारी शक्ति का भी साक्षातकार किया। स्वाभाविक था कि इन दृष्यों के बीच उनकी अनुभूतियो का मुख्य केंद्र मनुष्य और प्रकृति के बीच सामंजस्य था, इसी चिन्तन के फ़लस्वरूप सह-अस्तित्व शब्द ने जन्म लिया है। संपूर्ण भारतीय वांड्मय में प्रकृति के साथ सामंजस्य की आवश्यकता समझाने की कोशिश की गई। आज जब दुनिया में प्रकृति से पैदा हो रहे असंतुलन को लेकर चिन्ता व्यापी है। तब भारत चिन्तन ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो गया है। कहा गया है कि प्रकृति ने वह सब कुछ प्रदान किया है जो मनुष्य ही नहीं प्राणी-मात्र के पोषण के लिए आवश्यक है। इसी धारणा से प्रेरित होकर गांधीजी ने कहा था- "मनुष्य की जरूरत पूरा करने के लिए प्रकृति के पास प्रचुर है, लेकिन उसके लोभ या लालच की पूर्ति वह नहीं कर सकती। इस कथन का निहितार्थ है कि मनुष्य जीवन में दो चीजें हैं- आवश्यकता और लोभ। भारतीय दर्शन आवश्यकताओं की पूर्ति की बात कहता है। इसके लिए वह संयम बरतने का आग्रह करता है, भोग की वर्जना करता है. जिस भोग की इजाजत देता है, उसके प्रति भी मोह न रखने की बात की गई। यद्यपि भारतीय दर्शन में प्राण-तत्व सृष्टि के सभी जीवों में, यहाँ तक कि पेड़, पौधे, नदी, पहाड़ में भी माना गया है। जयशंकर प्रसाद अपने महाकाव्य " कामायनी " में तभी तो लिखते हैं-

"नीचे जल था ऊपर हिम था
एक तरल था, एक सघन'
एक तत्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन "

यही एकत्व भाव ही भारतीय चिंतन का सार तत्व है. इस भाव के लुप्त होते ही वह मनुष्यत्व तो निश्चित ही लुप्त हो जाएगा, जिसे सभ्यता ने सहस्त्राब्दियो की यात्रा के बाद अर्जित किया है. इसी भाव के विलगित हो जाने पर सृष्टि का विनाश स्वभाविक है. प्रसाद जी ने इसी को लक्ष्य करते हुए लिखा था-

स्वयं देव थे हम सब, तो फ़िर क्यों न विश्रृंखल होती सृष्टि
अरे अचानक हुई इसी से कड़ी आपदाओं की वृष्टि"

हमारे देश ने अपने कठिनतम दौर में भी परम्परागत संस्कारों की बदौलत उस तात्विकता को थामे रखा, जो उसे मनुष्यता का पुजारी बनाए रख सकी. कारण यही है कि हमारे संस्कार हमें आत्म चेतना से युक्त बनाने की पाठशाला है। यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से खड़ा किया जाएगा कि भारतीय संस्कार कितने प्रभावी हैं, तो आज समाज में विकृतियों का कारण क्या है? कारणों को जानने के लिए बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं। हमारा समाज इतना विशाल था कि सभी उस चेतना से सम्पन्न हो गए थे, ऐसा मानना निरीह मूर्खता की सीमा तक भोलापन होगा। समाज को सुसंस्कारित करने के प्रक्रिया के चलते विदेशी आक्रमणों का सिलसिला शुरू हो गया। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य पहले सुरक्षा की चिन्ता करता है। फिर विदेशियों ने निर्ममता से हमारे संस्कार केन्द्रों को ध्वस्त किया. इस कारण संस्कारित करने की प्रक्रिया की गति धीमी पड़ गई। इसी कड़ी में अंग्रेजी शासन ने भारतीय मानस को उसकी जड़ों से उच्छेदित करने की साजिश रची और भारत की युवा पीढ़ी इस प्रभाव में आ गई। राजनीतिक पराधीनता के साथ ही मानसिक पराधीनता की बेड़ियों में जकड़े भारतीय यह भूल गये कि हमारा तत्व-दर्शन भौतिक स्वतंत्रता के आगे जाकर, चेतना की स्वतंत्रता की बात करता है। इसलिए वर्तमान का जो परिदृश्य है, उसने अर्थ केन्दित चिन्तन को जन्म दिया। अर्थ जब जीवन का मुख्य उद्देश्य हो जाए तो लोभ, मद, ईर्ष्या उसके अनुवर्ती भाव हो जाते हैं। हमारे समाजिक पतन का यही कारण है। इससे मुक्ति की चाह रखने वालों को एक बार पुनः भारतीय संस्कारों की ओर लौटना होगा। आज के सामाजिक और पर्यावरण संकट से चिन्तित विचारकों को रोग का सही निदान करने की तत्परता दिखानी होगी।

*****

राष्ट्र की चेतना का आधार है संस्कृति

डॉ. वेदप्रकाश,
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग
किरोड़ीमल कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को चेतना की निरंतर आवश्यकता होती है। जिसकी पूर्ति का आधार संस्कृति है। संस्कृति ही व्यक्ति एवं समाज को स्पंदित करते हुए अथवा भावनात्मक रूप से एक दूसरे के साथ जोड़ते हुए राष्ट्र कल्याण हेतु तैयार करती है। संस्कृति एक ऐसी जीवंत और व्यापक संकल्पना है जिससे राष्ट्र जीवन ऊर्जावान बनता है। यह व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के विकास का आधार है। यही वह तत्व भी है जो राष्ट्र मानस का निर्माण व परिष्कार करती है और उसे सही दिशा देती है। संस्कृति अतीत, वर्तमान और भविष्य के सूत्रों को जोड़ते हुए चलती है। 1857 का स्वतंत्रता संग्राम नामक पुस्तक में वीर सावरकर ने लिखा है- "चाहे कितने ही छोटे घर का निर्माण क्यों न करना हो, यदि उसके आकार-प्रकार के अनुसार उसकी आधारशिला नहीं रखी गई, तो वह घर चिरस्थायी नहीं हो सकता।"आज जब देश विकसित भारत का संकल्प और स्वप्न लेकर आगे बढ़ रहा है तब यह आवश्यक है कि वीर सावरकर द्वारा लिखित उपयुक्त पंक्तियों को गंभीरता से समझा जाए। यानी हम विकसित भारत के रूप में व्यापक विचार लेकर बड़ा निर्माण करना चाहते हैं इसलिए हमें आधारशिला मजबूत रखनी होगी और इस आधारशिला को मजबूत करने का काम संस्कृति ही कर सकती है।

वेद, उपनिषद, रामायण और महाभारत भारतीय ज्ञान परंपरा के आदि ग्रंथ हैं, इनमें चिंतन का विराट रूप है। यह ऐसे आदिम स्रोत हैं जिनमें भारतीय संस्कृति का आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक बीज विद्यमान है। इन ग्रंथों में ज्ञान एवं अनुभव के सत्य की अभिव्यक्ति है। यही वह सत्य है जो भारतीय चिंतन और संस्कृति का मूल है। व्यक्ति को जीवन दृष्टि और जीवन पद्धति संस्कृति से मिलती है, जिसकी निर्मिति वेद और उपनिषदों के सूत्रों अथवा मंत्रों से होती है। एकं सद् विप्रा बहुदा वदंति... का अभिप्राय यही है कि सत्य तो एक है लेकिन भिन्न-भिन्न विद्वानों ने उसे भिन्न भिन्न रूपों में देखा-समझा है। भारतीय संस्कृति ममहित से परे परहित को महत्व देती है, जिससे व्यक्ति के अंदर सबको सुखी, सबको निरोग व सबको आनंदित देखने की भावना जन्म लेती है। श्रीरामचरितमानस जन-जन के हृदय का हार है। मानस के उत्तरकाण्ड में गोस्वामी तुलसीदास ने सनातन की परहित भावना को पुनर्स्थापित करते हुए लिखा है-

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।

अर्थात् हे भाई! दूसरों की भलाई के समान कोई धर्म नहीं है और दूसरों को दुख पहुंचाने के समान कोई नीचता अथवा पाप नहीं है। भारतीय ज्ञान परंपरा, हमारे पूर्वज, हमारी संत परंपरा, वीरता की परंपरा, हमारी विद्या- बुद्धि, हमारा साहित्य, धर्म, दर्शन, नीति, भक्ति, कला, कौशल, देशानुराग, अतिथि सत्कार, खानपान, वेशभूषा,रहन-सहन, स्व भाषा आदि अनेक ऐसे महत्वपूर्ण विषय एवं क्षेत्र हैं जो हमारी संस्कृति के आधारों के रूप में जाने जाते हैं। भारतीय जीवन पद्धति में इन आधारों को जन-जन में स्थापित करने का विधान रहा है। एक विधान तो विश्व ज्ञान के आदि ग्रंथ वेदों में उल्लिखित है यानी वैदिक जीवन पद्धति और दूसरा विधान लौकिक जीवन पद्धति है, जिसका उल्लेख गोस्वामी जी ने श्रीरामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में किया है। वे लिखते हैं-

सब के गृह गृह होहिं पुराना।
राम चरित पावन बिधि नाना।।
नर अरू नारि राम गुन गावहिं।
करहिं दिवस निसि जात न जानहिं।।

अर्थात् सबके यहां घर-घर में पुराणों और अनेक प्रकार के पवित्र रामचरित्रों की कथा होती है। पुरुष और स्त्री सभी श्रीरामचंद्र जी का गुणगान करते हैं और इस आनंद में दिन-रात का बीतना भी नहीं जान पाते। आज राष्ट्र की चेतना के पुनर्जागरण हेतु यह नितांत आवश्यक है कि घर-घर में इस प्रकार का वातावरण बने जिस प्रकार के वातावरण का उल्लेख गोस्वामी जी ने श्रीरामचरितमानस में किया है। जब इस प्रकार की जीवन पद्धति पर आधारित संस्कृति विकसित होगी, तब राष्ट्र की चेतना का निरंतर विकासावस्था को प्राप्त होना निश्चित है।

यह भी सर्वविदित है कि लंबे समय तक विदेशी दासता के कारण देश ने अनेक कष्ट सहे, वेद और लोक सम्मत जीवन पद्धति में विकार आते चले गए। हमारी श्रेष्ठ जीवन पद्धति को निकृष्ट बताकर हीनता बोध भर दिया गया। ऐसे निराशा और पराधीनता के युग में भी चेतन मन के कोने में देशानुराग और स्व की स्मृति बनी रही। मातृभूमि के लिए बलिदानों की परंपरा अनवरत चलती रही।

आज आधुनिक बनने के मोह में एवं विदेशी को ही श्रेष्ठ मानने की मानसिकता के कारण हम रहन-सहन, खान-पान, स्वभाषा, देशानुराग आदि अनेक बातों में अपने सांस्कृतिक आधारों से अलग होते जा रहे हैं। क्या ऐसे में संस्कृति के चेतना से भरे हुए उन आधारों की पुनर्स्थापना के बिना व्यक्ति एवं राष्ट्र का उत्थान संभव है? ध्यान रहे श्रेष्ठ व्यक्तित्व, चरित्रवान पीढ़ी और विकसित राष्ट्र के संकल्प हेतु उच्च आदर्शों का निर्माण व अनुसरण आवश्यक है। भारतवर्ष की सनातन परंपरा में राम- कृष्ण जहां एक ओर उच्च आदर्श हैं वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक आधार भी हैं। आज राष्ट्रोत्थान के लिए जन मानस में इनकी पुनर्स्थापना की आवश्यकता है।

स्वामी विवेकानंद ने लिखा है-"भारत दीर्घकाल से यंत्रणा सहता आया है। सनातन धर्म पर काफी अरसे से अत्याचार हुआ है...केवल श्रीरामकृष्ण देव के चरण तले बैठकर शिक्षा ग्रहण करने से ही भारत का उत्थान होगा। उनके जीवन, उनके उपदेशों का चारों तरफ प्रचार करना होगा।

राष्ट्रीय चेतना और भारतीय संस्कृति को जानने-समझने के लिए हमें आज फिर से राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद, महर्षि अरविंद जैसे महापुरुषों के चिंतन को जानने की आवश्यकता है। भारतीय जीवन पद्धति में संस्कारों की लंबी श्रंखला है। गर्भाधान से लेकर अंतिम संस्कार तक सोलह संस्कारों की जैसी वैज्ञानिक संकल्पना भारतीय संस्कृति में है, क्या वैसी विश्व की अन्य किसी संस्कृति में दिखाई देती है? भारतीय संस्कृति जड़-चेतन सभी में ईश्वर का वास मानकर सभी के सम्मान का भाव रखती है। यदि यहां सब के सुख की कामना के मंत्र हैं तो इसका व्यावहारिक रूप भी विद्यमान है। प्रमाण स्वरूप प्राकृतिक आपदा एवं कोरोना जैसी महामारी के समय भी भारत ने विश्व के सैकड़ों देशों को खाद्यान्न एवं दवाइयों के माध्यम से मदद की। भारत विविधतामयी प्रकृति एवं संस्कृति वाला देश है। यहां विभिन्न जाति, मत, संप्रदाय एवं उनके रीति-रिवाज हैं। ये सभी मिलकर भारतीय संस्कृति के आधार बनते हैं। लेकिन अनेक अवसरों पर भ्रम, भय फैलाकर और झूठ के सहारे आपसी सद्भाव को बिगाड़ने के प्रयास किए जाते हैं, क्या ऐसे में यह समझना आवश्यक नहीं है कि भारतीय संस्कृति विवाद की नहीं, संवाद की संस्कृति है। समाज एवं राष्ट्र की एकता और अखंडता के लिए सांस्कृतिक आधार नितांत आवश्यक हैं। गांधी जी ने लिखा है- पहले हम अपनी संस्कृति का सम्मान करना सीखें और उसे आत्मसात करें... हमारी संस्कृति में जैसी मूल्यवान निधियां हैं, वैसी किसी दूसरी संस्कृति में नहीं है।

भारतीय धर्म और दर्शन की संकल्पना भी व्यापक है। वहां किसी एक के स्थान पर सभी का स्वीकार है। देश,धर्म और साहित्य नामक पुस्तक में विद्यानिवास मिश्र ने लिखा है- मैं इतना जरुर जानता हूं कि विपुलता में इस संस्कृति का संचरण होता है, छोटे घर में रहने वाली यह संस्कृति नहीं है, यह तो मुक्त आकाश से बात करने वाले शिखरों में रमने वाली संस्कृति है। इस संस्कृति के प्रवक्ता इसी से नारद जैसे रमता प्राणी हैं, श्रीराम जैसे निर्वासित वनयात्री राजकुमार हैं, श्रीकृष्ण जैसे योगेश्वर ब्रजबिहारी हैं, बुद्ध महावीर जैसे परिव्राजक हैं, श्री शंकराचार्य जैसे दिगन्तनापी दुर्धर्ष संन्यासी हैं, विवेकानंद और रामतीर्थ जैसे जाग्रत और अलमस्त साधु हैं। आजकल कई बार धर्म और दर्शन पर भी

अनर्गल टीका-टिप्पणी की जाती है। जबकि धर्म और दर्शन भारतीय संस्कृति की आत्मा हैं, दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों का ध्येय आत्म तत्व को अध्यात्म तत्व से जोड़ना है। भारत सनातन का प्रकाश पुंज नामक पुस्तक में परमार्थ निकेतन ऋषिकेश के अध्यक्ष पूज्य स्वामी चिदानंद सरस्वती जी ने लिखा है- "सनातन अर्थात शाश्वत, सत्य पर आधारित, सबके लिए, सदा के लिए है। सनातन को किसी काल, परिस्थिति, व्यक्ति, जाति, धर्म, संस्कृति, क्षेत्र व राष्ट्र से नहीं बांधा जा सकता, क्योंकि वह तो शाश्वत सत्य है। सनातन है तो वसुधैव कुटुंबकम के दिव्य मंत्र हैं, जो पूरे विश्व को एक परिवार की तरह लेकर आगे बढ़ रहे हैं। सनातन है तो नारी का महत्व है, सनातन है तो प्रकृति का महत्व है, सनातन है तो मानवता है, सनातन है तो समरसता है। सनातन है तो उसके मूल में एक ऐसा दर्शन है जो सभी में समभाव देखता है। वह आत्मवत् सर्वभूतेषु अर्थात सभी प्राणियों में स्वयं का प्रतिबिंब देखने का संदेश देता है। तप, त्याग, व्रत, वैराग्य, काम, क्रोध, मद, लोभ आदि अनेक विषयों का चिंतन भारतीय साहित्य और संस्कृति में विद्यमान है। आज राष्ट्र चेतना के पुनर्जागरण हेतु इन विषयों को फिर से जानने की आवश्यकता है।

आज राष्ट्रीय और वैश्विक फलक पर अनेक लोग भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य एवं संस्कृति को जान-समझ रहे हैं। विश्व के कई विश्वविद्यालयों में यह पाठ्यक्रम का हिस्सा हैं। लेकिन यह विडंबना है कि युवा भारत का बड़ा हिस्सा भारतवर्ष की संस्कृति एवं सांस्कृतिक आधारों से अनजान बना हुआ है। होली, दिवाली, रक्षाबंधन, मकर संक्रांति, गंगा स्नान, तीर्थ-व्रत, पूजा-पाठ आदि विभिन्न पर्व-उत्सव एवं महत्वपूर्ण तिथियां व्यक्ति और समाज को जोड़ने का काम करते हैं।

किसी पर्व- उत्सव पर हुड़दंग करना उस पर्व- उत्सव का हिस्सा नहीं होता बल्कि उसे विधि-विधान से परिवार और समाज के साथ मिलकर सुंदर ढंग से मनाना और उससे नव चेतना लेकर निरंतर आगे बढ़ते रहना आवश्यक है। यही उस पर्व-उत्सव का संदेश भी होता है। इसलिए आज यह आवश्यक है कि संस्कृति के पाठ विभिन्न स्तरों पर पाठ्यक्रम का हिस्सा बनें। महर्षि अरविंद ने भारतीय संस्कृति के आधार नामक पुस्तक में लिखा है-हमें अपनी आत्मा के बाह्य रूपों का पुन: गठन करना होगा,किंतु प्राचीन रूपों के पीछे विद्यमान आत्मा को ही हमें उन्मुक्त करना और उसकी सुरक्षा करते हुए उसे नए और ओजस्वी विचार-प्रतीक, सांस्कृतिक मूल्य, नए उपकरण एवं महत्तर रूप प्रदान करने होंगे।

राष्ट्र की निर्मिती में युवाओं का महत्वपूर्ण योगदान होता है और युवाओं की निर्मिती शिक्षा के माध्यम से होती है। सराहनीय है कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में भारतीय संस्कृति के ज्ञान व समुचित समझ के प्रविधान किए गए हैं। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी द्वारा विरासत पर गर्व का आवाह्न भी सांस्कृतिक आधारों की पुनर्स्थापना का ही प्रयास है। पूरे देश में सांस्कृतिक महत्व के मठ- मंदिरों एवं स्थानों का जीर्णोद्धार और पुनर्स्थापना की जा रही है। एक भारत-श्रेष्ठ भारत जैसे अभियानों के माध्यम से युवाओं का देश की संस्कृति और विविधता से परिचय हो रहा है। विगत दिनों एक साहित्यिक कार्यक्रम में पूर्व शिक्षा मंत्री एवं वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. रमेश पोखरियाल निशंक ने कहा कि-"संस्कृति वह संस्कार है जो किसी भी नागरिक के व्यक्तित्व निर्माण के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। पर्व-उत्सव के माध्यम से बचपन से ही बालक संस्कार ग्रहण करते हुए अपने जीवन में आगे बढ़ता है। वह देश को मातृभूमि मानकर और यहां के जन-जन को परिवार का हिस्सा मानकर जीवन जीने की सीख ले यही संस्कृति का ध्येय भी है।"

आज विश्व के कई देश युद्ध एवं आंतरिक कलह के शिकार हैं। कई जगह विस्तारवाद एवं स्वयं को श्रेष्ठ मानने की भावना भी मुखर हो रही है,ऐसे में अनेक अवसरों पर भारत से समाधान की आशा की जाती है। तब यह आवश्यक है कि भारतवर्ष का जन-जन अपनी ज्ञान परंपरा एवं संस्कृति से समुचित रूप में परिचित हों। सर्वोच्च आकांक्षाएं रखने वाले किसी व्यक्ति को अपने विकास के लिए जो कुछ चाहिये, वह सब उसे भारत में मिल सकता है... भारत अपने मूल स्वरूप में कर्मभूमि है, भोगभूमि नहीं। ध्यान रहे व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के उत्थान और पतन का मूल संस्कृति है। सांस्कृतिक आधारों को जानकर उनकी ओर प्रवृत्ति का मार्ग ही देश को शिखर पर ले जाएगा।

*****

बुंदेली'चौका'से पूर्वांचलिया'कोहबर'

डॉ. नवीन सिंह
सहायक प्राध्यापक
शिक्षाशास्त्र विभाग,
डॉ. हरिसिंह गौर केंद्रीय विश्वविद्यालय,
सागर, म.प्र.

यह अध्ययन भारत के बुंदेलखण्ड क्षेत्रीय लोकचित्र परंपरा **चौका** एवं पूर्वांचल की वैवाहिक लोककला **कोहबर** के मध्य विद्यमान सांस्कृतिक एवं प्रतीकात्मक नृवंशशास्त्रीयअंतर्सबंधों का एकरूप विश्लेषण है। दोनों कला-रूप भारतीय लोकसंस्कृति में स्त्री-केंद्रित अनुष्ठानों, प्रजनन-कामनाओं, मंगलाचार तथा पारिवारिक-सामाजिक संरचनाओं के दृश्य अभिव्यक्त स्वरूप हैं। यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से दोनों भारत के अलग-अलग क्षेत्रों में विकसित हुई हैं किंतु प्रतीकों, रंगविधान, रूपांकन एवं अनुष्ठानिक प्रयोजनों में गहरा साम्य परिलक्ष्यित होता है। इस लेख के अंतर्गत किया गया अध्ययन, मौखिक परंपराओं, लोकविश्वासों तथा कलाकार समुदायों के अनुभवों को तथा पूर्व में उन पर हुए अध्ययनों को अधार बनाकर यह स्पष्ट करता है कि **चौका** हो या **कोहबर** दोनों ही स्त्री-सृजनात्मकता, गृहस्थ जीवन की पवित्रता, उर्वरता और सामाजिक निरंतरता के प्रतीक हैं। इसके साथ ही साथ सांस्कृतिक द्वैत में निहित एकरूपता के संगम को भी यहाँ रेखांकित किया गया है। इससे यह पता चलता है कि जहाँ क्षेत्रीय विविधता के बावजूद एकरूप में आगे बढ़ने वाली साझा सांस्कृतिक चेतना और प्रतीकात्मक भाषा विकसित होती है। इस अध्ययन का निष्कर्ष यह प्रतिपादित करता है कि बुंदेली**चौका** और पूर्वांचलिया **कोहबर** सिर्फ लोक-कला पर आधारित महज़ अभिव्यक्तियां नहीं हैं अपितु, ये भारतीय लोक संस्कृति के व्यापक नृवंशशास्त्रीय संवाद का एक सशक्त उदाहरण हैं। यह शोध आधारित लेख, लोकगीतों की समता, उनके शाब्दिक चयन एवं उनकी सांस्कृतिक-सामाजिक परिप्रेक्ष्य जैसे महत्वपूर्ण चरों/मूल्यों पर केंद्रित है अतैव यह लोककला अध्ययन, सांस्कृतिक नृविज्ञान एवं भारतीय लोकपरंपराओं के संरक्षण और पुनर्पाठ/पुनर्जीवन हेतु एक महत्वपूर्ण शैक्षणिक आधार प्रदान करता है।

प्रस्तावना

भारतीय लोकसंस्कृति में स्त्री-केंद्रित कलारूपों ने सदैव सामाजिक अनुष्ठानों, प्रजनन प्रतीकों तथा पारिवारिक संरचनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम निभाया है। बुंदेलखंड क्षेत्र की 'चौका'

परंपरा, जो विवाह एवं गृहप्रवेश जैसे मंगल अवसरों पर धरा-चित्रण के रूप में प्रकट होती है, तथा पूर्वांचल की 'कोहबर' कला, जो वैवाहिक कोहबर घर की सजावट के लिए रची जाती है, इसी सृजनात्मकता के प्रतिनिधि हैं। यद्यपि ये परंपराएँ भौगोलिक रूप से विपरीत क्षेत्रों में विकसित हुईं, तथापि इनके प्रतीकात्मक तत्व, रंग-रूप विधान तथा अनुष्ठानिक प्रयोजन साझा सांस्कृतिक धागे से बंधे हैं। भारतीय लोकसंस्कृति में स्त्री-केंद्रित कला-रूपों ने सदैव सामाजिक अनुष्ठानों, प्रजनन प्रतीकों तथा पारिवारिक संरचनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम निभाया है। इसी प्रसंग में हमें एक तो बुंदेलखंड क्षेत्र की 'चौका' परंपरा तथा दूसरी पूर्वांचल की 'कोहबर' कला परंपरा मिलतीं हैं। बुंदेलखंडी 'चौका' परंपरा, जो विवाह एवं गृहप्रवेश जैसे मंगल अवसरों पर फर्श/धरा चित्रण के रूप में प्रकट होती है, तथा पूर्वांचल की 'कोहबर' कला, जो वैवाहिक कोहबर घर की सजावट के लिए रची जाती है, इसी सृजनात्मकता के प्रतिनिधि हैं। यद्यपि ये परंपराएँ भौगोलिक रूप से विपरीत क्षेत्रों, बुंदेलखंड की पहाड़ी-प्रदेशीय भौगोलिकता एवं पूर्वांचल की गंगा-प्रवण उपजाऊ भूमि, में विकसित हुईं, तथापि इनके प्रतीकात्मक तत्व, रंग-रूप विधान तथा अनुष्ठानिक प्रयोजन साझा सांस्कृतिक धागे से बंधे हैं। यह अध्ययन, *बुंदेली 'चौका' से पूर्वांचलिया 'कोहबर': द्वैध सांस्कृत्रीय नृवंशशास्त्रीय संगम अध्ययन*, इन दोनों लोकचित्र परंपराओं के मध्य निहित सांस्कृतिक, प्रतीकात्मक एवं नृवंशशास्त्रीयअंतर्संबंधों का द्वैध विश्लेषण प्रस्तुत करता है। नृवंशशास्त्रीय पद्धति के अंतर्गत क्षेत्रीय क्षेत्रकार्य, मौखिक लोकपरंपराओं, कलाकार समुदायों के अनुभवों तथा लोकविश्वासों पर आधारित यह शोध स्पष्ट करता है कि 'चौका' एवं 'कोहबर' न केवल उर्वरता, गृहस्थ पवित्रता एवं सामाजिक निरंतरता के प्रतीक हैं, अपितु उत्तर भारतीय लोकसंस्कृति के व्यापक संवाद के सशक्त उदाहरण भी हैं। सांस्कृतिक द्वैत के भीतर संगम की इस अवधारणा को उजागर करते हुए, अध्ययन क्षेत्रीय विविधता के परे साझा प्रतीकात्मक भाषा एवं चेतना की पहचान करता है। लोककला अध्ययन, सांस्कृतिक नृविज्ञान तथा भारतीय लोक परंपराओं के संरक्षण हेतु यह शोध एक महत्वपूर्ण आधार प्रदान करता है।

ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ

उत्तर भारत की लोककला परंपराएँ वैदिक काल से चली आ रही स्त्री-सृजन की धरोहर हैं। 'चौका', बुंदेलखंड (मध्य प्रदेश एवंउत्तर प्रदेश के सीमांत क्षेत्र) में गाय के गोबर एवं चावल के घोल से निर्मित फर्श चित्रण है, जो दीपावली, अक्षय तृतीया या विवाह से पूर्व बीजरोपण पूजा के अवसर पर बनाया जाता है।यह चित्रण वास्तु शांति एवं समृद्धि की कामना करता है, जिसमें केंद्रीय ज्यामितीयआकृतियाँ (जैसे षट्कोण या स्वास्तिक) चारों ओर वनस्पति, पशु एवं सूर्य-चंद्र प्रतीकों से घिरी होती हैं।

कोहबरधरा चित्रण की छवि (मुक्त कृत्रिम बुद्धिमत्ता ५.२ तथा मेटा भाषा द्वारा निर्मित

दूसरी ओर, पूर्वांचल (उत्तर प्रदेश एवं बिहार के गंगा मैदानी क्षेत्र) की लोक संस्कृति में **कोहबर** फर्श (धरा) और दीवारों पर उकेरी जाने वाली एक अत्यंत प्राचीन और मांगलिक कला है, जो विवाह के उपलक्ष्य में सौभाग्य और वंश वृद्धि की कामना से बनाई जाती है। इस कला का मुख्य केंद्र विवाह कक्ष (कोहबर घर) होता है, जहाँ फर्श पर 'अरिपन' या 'ऐपन' के रूप में जटिल ज्यामितीय-आकृतियाँ और प्राकृतिक प्रतीकों का संगम देखने को मिलता है।

इस कला के केंद्र में प्रायः एक **कमल** (पुरैन) का फूल होता है जो नारीत्व और उर्वरता का प्रतीक है, और इसके ठीक ऊपर या साथ में **बांस** की आकृति बनाई जाती है जो वंश की मजबूती और पुरुष का प्रतीक मानी जाती है। इनके चारों ओर मछली, कछुआ, और सांप जैसे जलीय जीवों को चित्रित किया जाता है, जो जीवन में निरंतरता, धैर्य और सुरक्षा के परिचायक हैं। रंगों के लिए पारंपरिक रूप से गेरू (लाल) और चावल के पीसे हुए घोल (पीठार) का प्रयोग किया जाता है, जिसमें लाल रंग प्रेम और ऊर्जा का संचार करता है।

कोहबर केवल एक सजावट मात्र नहीं है, बल्कि यह एक धार्मिक अनुष्ठान है जहाँ **सूर्य, चंद्रमा** और **नैना-जोगिन** जैसी आकृतियाँ नवदम्पति को बुरी नजर से बचाने और उनके जीवन में खुशहाली भरने के लिए 'साक्षी' के रूप में मौजूद रहती हैं।दोनों कलाओं की साझा जड़ें हिंदू लोकविश्वासों में निहित हैं, जहाँ भूमि को उर्वर माता (पृथ्वी देवी) के रूप में पूजा जाता है। वेदों एवं पुराणों में वर्णित यज्ञ-वेदियाँ एवं मंडप अलंकरण इनके प्रारंभिक रूप माने जाते हैं। आधुनिक संदर्भ में, ये कलाएँ स्त्री शिक्षा एवं सामाजिक परिवर्तन का प्रतिबिंब भी हैं, क्योंकि ग्रामीण महिलाएँ इन्हें बिना औपचारिक प्रशिक्षण के पीढ़ी-दर-पीढ़ी संरक्षित करती हैं।

निष्कर्ष

यह अध्ययन *"बुंदेली 'चौका' से पूर्वांचलिया 'कोहबर': द्वैध सांस्कृतिक नृवंशाधारीय संगम अध्ययन"* के माध्यम से प्रमाणित करता है कि भौगोलिक विविधता के बावजूद बुंदेलखंड की 'चौका' एवं पूर्वांचल की 'कोहबर' परंपराएँ उत्तर भारतीय लोक संस्कृति के गहन संवाद का प्रतीक हैं। इन स्त्री-केंद्रित लोकचित्रों में उर्वरता (कमल-मछली), गृहस्थ पवित्रता एवं सामाजिक निरंतरता के साझा प्रतीक, रंगविधान (लाल-श्वेत), रेखीय तकनीक तथा अनुष्ठानिक प्रयोजन परिलक्षित होते हैं। लोकगीतों के शाब्दिक चयन, यथा: "फूल-फल फलेंगे" से "कमल खिलेगा कोहबर में", मौखिक परंपरा में सांस्कृतिक समानता को रेखांकित करते हैं, जो क्षेत्रीय सीमाओं को पार कर साझा चेतना का सृजन करते हैं।

सैद्धांतिक योगदान

नृवंशाधारीय दृष्टि से, यह लेख सांस्कृतिक द्वैत के भीतर संगम की अवधारणा को स्थापित करता है, जहाँ विविधता एकता का आधार बनती है। 'चौका' एवं 'कोहबर' केवल कलात्मक अभिव्यक्तियाँ नहीं, अपितु हिंदू लोकविश्वासों, वैदिक यज्ञ-वेदी से आधुनिक वैवाहिक अनुष्ठानों तक, की सतत धारा हैं। स्त्री सृजनात्मकता इनके केंद्र में रहकर लिंग अध्ययन एवं सामाजिक समावेशन के लिए नई अंतर्दृष्टि प्रदान करती है।

नीतिगत एवं व्यावहारिक सुझाव

लोककला संरक्षण हेतु डिजिटल अभिलेखागार, ग्रामीण महिला प्रशिक्षण कार्यशालाएँ एवं सांस्कृतिक पर्यटन परियोजनाएँ प्रारंभ की जानी चाहिए। शैक्षिक पाठ्यक्रमों में इनकी समावेश से सांस्कृतिक जागरूकता बढ़ेगी। कृत्रिम बुद्धिमता द्वारा सृजित चित्र एवं इन्फोग्राफिक्स जैसे दृश्य माध्यम संरक्षण एवं प्रचार को सहज बनाएँगे। अंततः, यह अध्ययन भारतीय लोक परंपराओं के पुनर्पाठ/पुनर्स्थापना हेतु आधार प्रदान करता है, जो वैश्विक सांस्कृतिक संवाद में भारत की समृद्ध विरासत को स्थापित करता है।

*****

अवधीय राम भक्ति और पूर्वोत्तर की रामधारा द्वारा भाषाई और सांस्कृतिक सेतु का निर्माण

प्रशान्त कुमार द्विवेदी
शोध छात्र
डॉ. हरिसिंह गौर केंद्रीय विश्वविद्यालय,
मध्य प्रदेश

प्रस्तावना

भारतीय उपमहाद्वीप की सांस्कृतिक विरासत में रामकथा और रामभक्ति की परंपरा अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखती है। रामकथा न केवल धार्मिक आस्था का केंद्र रही है, बल्कि इसने भारतीय समाज के विभिन्न क्षेत्रों, भाषाओं और संस्कृतियों के बीच संवाद और एकता का सेतु भी निर्मित किया है। विशेष रूप से, उत्तर भारत के *अवध क्षेत्र* में अवधी भाषा में रचित रामभक्ति साहित्य, जैसे गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस', ने जनमानस में गहरी पैठ बनाई। इस साहित्यिक धारा ने न केवल धार्मिक भावनाओं को जागृत किया, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना को भी एक नई दिशा दी। अवध की यह रामभक्ति परंपरा समय के साथ-साथ सीमाओं को लांघती हुई पूर्वोत्तर भारत, विशेषकर असम तक पहुँची, जहाँ इसकी सांस्कृतिक धारा ने स्थानीय भाषाओं, लोककथाओं और धार्मिक अनुष्ठानों के माध्यम से अपनी पहचान स्थापित की। यह प्रक्रिया केवल धार्मिक प्रचार तक सीमित नहीं रही, बल्कि इसमें भाषाई, सांस्कृतिक और लोक अभिव्यक्तियों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही, जिसने विविधता में एकता की भारतीय अवधारणा को और भी सुदृढ़ किया। इसका एक उदाहरण हमें वाल्मीकि रामायण के अयोध्या कांड में भी देखने को मिलता है; यथा:

"रामोविग्रहवान्धर्मःसाधुःसत्यपराक्रमः।
राजा सर्वस्यलोकस्यदेवानांमधवानिव।।"

इस प्रकार, अवध से असम तक की जो रामभक्तिवाली (की) सांस्कृतिक यात्रा न केवल धार्मिक विश्वासों का प्रसार है, अपितु यह भारतीय समाज में भाषाई और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के माध्यम से एक गहरे सांस्कृतिक संवाद और सेतु निर्माण का भी प्रतीक है।

अवध क्षेत्र की रामभक्ति परंपरा

अवध क्षेत्र, विशेषकर अयोध्या धाम, सुल्तानपुर, फैज़ाबाद (वर्तमान अयोध्या), और आसपास के जनपदों में रामभक्ति का एक समृद्ध और विविध इतिहास रहा है। यहाँ की रामभक्ति परंपरा का आरंभिक स्वरूप वैदिक और पुराणिक युग में मिलता है, जब राम को मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के दौरान यह परंपरा और भी सशक्त हुई, जब गोस्वामी तुलसीदास (१५३२-१६२३) ने 'रामचरितमानस' की रचना की। तुलसीदास ने संस्कृत के स्थान पर अवधी भाषा को चुना, जिससे रामकथा जनसामान्य तक सहजता से पहुँच सकी। अवध क्षेत्र में रामकथा का प्रसार केवल ग्रंथों तक सीमित नहीं रहा, बल्कि यह लोकजीवन, रीति-रिवाज, पर्व-त्योहार, और सांस्कृतिक आयोजनों में भी गहराई से रच-बस गया।

यहाँ की रामलीला, जो प्रायः दशहरे और दीपोत्सव या दीपावली के अवसर पर आयोजित होती है, केवल एक धार्मिक आयोजन नहीं बल्कि सामाजिक संवाद, नैतिक शिक्षा और सांस्कृतिक एकता का माध्यम भी है। रामलीला में गाँव-गाँव के लोग भाग लेते हैं, पात्रों का चयन स्थानीय समुदाय से होता है, और मंचन के दौरान रामकथा के साथ-साथ क्षेत्रीय लोकगीत, नृत्य, और संवादों का समावेश होता है।वर्तमान में तो कई देशों के कलाकार भी इसमें प्रतिभाग करने के लिए आतुर होते हैं और वे न सिर्फ

प्रतिभाग करते हैं अपितु मंचन में भी अपने-अपने किरदारों को अच्छे से निभाते हैं।

अवध के लोकगीतों, यथा: कजरी, बिरहा, झूला, और चौपाइयाँ आदि, में राम और सीता के प्रसंग, राम के वनवास, सीता-हरण, और राम-रावण युद्ध की घटनाएँ गायी जाती हैं। इन गीतों में लोकजीवन की संवेदनाएँ, संघर्ष, और आस्थाएँ झलकती हैं। उदाहरण के लिए, कजरी गीतों में सीता की विरह वेदना, तो बिरहा में राम के वनवास का चित्रण मिलता है।

"सियाराममय सब जग जानी।
करउँ प्रणाम जोरि जुग पानी।।"

आगे की पंक्तियों में श्री सीताराम-धाम वंदना का वर्णन मिलता है जिसमें कहा गया है कि:

दउँ अवध पुरी अति पावनि। सरजू सरि कलि कलुष नसावनि॥

प्रनवउँपुर नर नारिबहोरी। ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी॥

भावार्थ: मैं अति पवित्र श्री अयोध्यापुरी और कलियुग के पापों का नाश करने वाली श्री सरयू नदी की वन्दना करता हूँ। फिर अवधपुरी के उन नर-नारियों को प्रणाम करता हूँ, जिन पर प्रभु श्री रामचन्द्रजी की ममता थोड़ी नहीं है (अर्थात् बहुत है)।

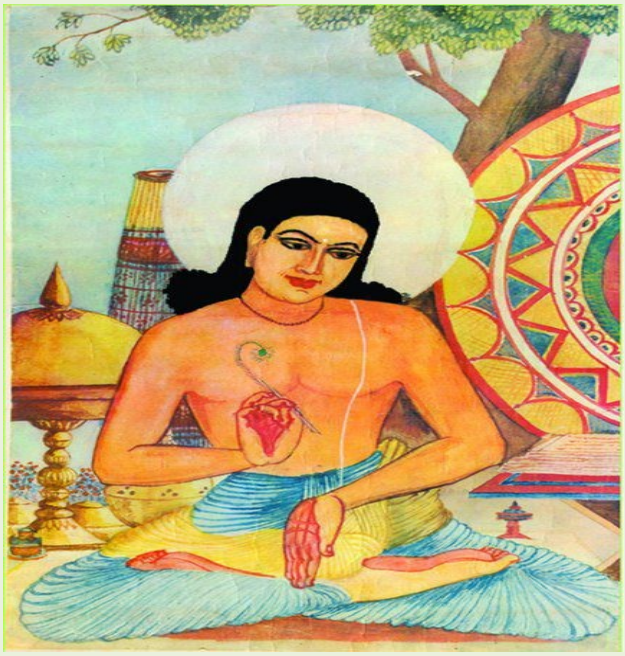

शंकरदेव

अवध क्षेत्र में रामकथा का पाठ, विशेषकर 'रामचरितमानस' का अखंड पाठ, धार्मिक अनुष्ठानों, विवाह, नामकरण, और अन्य शुभ अवसरों पर किया जाता है। चौपालों और मंदिरों में रामायण कथा का श्रवण, बच्चों को रामकथा सुनाना, और रामनवमी, दशहरा, दीपावली जैसे त्योहारों पर रामकथा से जुड़े आयोजन, यहाँ की सांस्कृतिक पहचान का अभिन्न हिस्सा हैं। अवध की रामभक्ति परंपरा ने सामाजिक समरसता को भी बढ़ावा दिया। यहाँ के मुसलमान, दलित, और अन्य समुदाय भी रामलीला में भाग लेते हैं, जिससे धार्मिक सहिष्णुता और सामाजिक एकता का संदेश भी मिलता है।

यह भी उल्लेखनीय है कि अवध की रामभक्ति परंपरा ने साहित्यिक जगत को भी समृद्ध किया है। तुलसीदास के अतिरिक्त केशवदास, घनानंद, और अन्य कवियों ने भी रामकथा पर आधारित रचनाएँ कीं।

"राम नाम बिनु गति नहिं कोई।
जौंकरि जतन करै सब कोई।।"

अवध क्षेत्र की रामभक्ति परंपरा, अपनी गहराई, विविधता और सामाजिक समावेशिता के कारण, भारतीय सांस्कृतिक चेतना का आधारस्तंभ बन गई है। इस परंपरा ने न केवल धार्मिक विश्वासों को, बल्कि सामाजिक और नैतिक मूल्यों को भी जन-जन तक पहुँचाया है।

पूर्वोत्तर भारत में रामधारा

पूर्वोत्तर भारत, विशेषकर असम, मणिपुर, त्रिपुरा, और अन्य पूर्वोत्तरराज्यों में रामकथा की उपस्थिति और उसकी सांस्कृतिक धारा एक अद्वितीय अध्ययन का विषय है। यहाँ की बहुभाषी, बहुजातीय और बहुधार्मिक संरचना के बावजूद, रामकथा ने सांस्कृतिक संवाद और एकता का सेतु निर्मित किया है।

असम में भक्ति आंदोलन की शुरुआत 15वीं-16वीं शताब्दी में महापुरुष शंकरदेव (१४४९-१५६८) और माधवदेव (१४८९-१५९६) के नेतृत्व में हुई। शंकरदेव ने 'एक-शरण-नाम-धर्म' की स्थापना की, जिसमें विष्णु के विभिन्न अवतारों के साथ-साथ राम की भी पूजा की जाती है। शंकरदेव और माधवदेव ने

असमिया भाषा में 'कथा-भागवत', 'रामविजय', 'कंकावती', और 'रामायण' जैसे ग्रंथों की रचना की, जिससे रामकथा स्थानीय समाज में लोकप्रिय हुई। असम के सत्रों (मठों) में रामकथा का नियमित पाठ, रामलीला का मंचन, और लोकगीतों में राम के गुणगान ने न केवल धार्मिक आस्था को प्रबल किया, बल्कि विभिन्न जातीय और भाषाई समुदायों के बीच एकता और सहिष्णुता की भावना को भी सुदृढ़ किया। सत्रिया नृत्य, जो असम का शास्त्रीय नृत्य है, उसमें भी रामकथा के प्रसंगों का मंचन किया जाता है।

"राम नामुहृदयँबसु मोर,
दुखुदारिद्रुनिवारु सदा।"

मणिपुर में भी रामकथा का प्रभाव देखा जा सकता है। यहाँ के वैष्णव संप्रदाय में राम और कृष्ण दोनों की पूजा होती है। मणिपुरी रासलीला और नृत्य-नाटकों में रामकथा के प्रसंगों का मंचन किया जाता है। त्रिपुरा, मेघालय, और नागालैंड के कुछ क्षेत्रों में भी रामकथा के लोक संस्करण प्रचलित हैं, जो स्थानीय भाषाओं और परंपराओं के अनुसार विकसित हुए हैं। असमिया रामायण (रामायण काव्य), जो माधवकंदली द्वारा 14वीं शताब्दी में रचित है, असमिया साहित्य का एक महत्वपूर्ण स्तंभ है। इसमें रामकथा को स्थानीय भाषा, संस्कृति और संवेदनाओं के अनुरूप प्रस्तुत किया गया है। असम के बिहू उत्सव, लोकगीत, और लोकनाट्य में भी रामकथा के तत्व मिलते हैं।

"रामेरामेरमंरम्यं,
रम्यंरामेरमेश्वरम्।"

पूर्वोत्तर भारत में रामकथा का प्रसार केवल धार्मिक अनुष्ठानों तक सीमित नहीं रहा, बल्कि यह सामाजिक, सांस्कृतिक, और साहित्यिक गतिविधियों का भी अभिन्न हिस्सा बन गया है। यहाँ की सांस्कृतिक विविधता के बावजूद, रामकथा ने एक साझा सांस्कृतिक मंच प्रदान किया है, जिससे क्षेत्रीय और राष्ट्रीय पहचान को बल मिला है।पूर्वोत्तर भारत की रामधारा में न केवल असम, बल्कि मणिपुर, त्रिपुरा और अन्य राज्यों की लोकधुनों में भी रामकथा और भक्ति के स्वर गूंजते हैं। इन क्षेत्रों में, रामकथा के प्रसंगों को स्थानीय लोकगीतों और नृत्य-नाटकों के माध्यम से जनमानस तक पहुँचाया गया है, जिससे यह सांस्कृतिक संवाद और एकता का सशक्त माध्यम बन गया है।

मणिपुर में, धार्मिक और अनुष्ठानिक गीतों की परंपरा अत्यंत समृद्ध है। यहाँ के "लाइहराओबा" उत्सव में गाए जाने वाले गीतों में सृष्टि, प्रकृति और देवताओं के साथ-साथ रामकथा के प्रसंग भी समाहित होते हैं। इन गीतों में लोकधर्मी भक्ति और सामाजिक जीवन की झलक मिलती है। उदाहरण स्वरूप, "खुल्लोंगइसेई" और "पेनाइसेई" जैसे गीतों में, प्रकृति, प्रेम, और धार्मिक आस्था का सुंदर समन्वय मिलता है।

त्रिपुरा में भी रामकथा के प्रसंगों को स्थानीय कोकबोरोक और बंगाली लोकगीतों में पिरोया गया है। यहाँ के आदिवासी समुदायों में गाए जाने वाले गीतों में राम और सीता के आदर्श दांपत्य, वनवास और संघर्ष की गाथाएँ मिलती हैं। त्रिपुरी लोकगीतों में एक उदाहरण है:

इन गीतों के माध्यम से त्रिपुरा के लोग अपने पारिवारिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन में राम के आदर्शों को आत्मसात करते हैं, और रामकथा को अपनी सांस्कृतिक पहचान में शामिल करते हैं। **अन्य पूर्वोत्तर राज्यों** जैसे मिज़ोरम, नागालैंड, और अरुणाचल प्रदेश में भी रामकथा के तत्व स्थानीय लोकधुनों में देखने को मिलते हैं। मिज़ोरम में "साइकुटीज़ाई" जैसे गीतों में वीरता, धर्म, और जीवन संघर्ष के साथ-साथ राम के चरित्र का भी उल्लेख आता है। मिज़ो लोकगीतों में एक मिज़ो लोकगीत की कुछ पंक्तियाँ हैं:

इन गीतों के माध्यम से पूर्वोत्तर के विविध समुदायों ने रामकथा को अपनी सांस्कृतिक पहचान का हिस्सा बना लिया है, जिससे यह क्षेत्रीय विविधता के बावजूद एक साझा सांस्कृतिक धारा में बंधा है। लोकगीतों की ये पंक्तियाँ न केवल धार्मिक आस्था, बल्कि सामाजिक एकता, प्रेम, और नैतिक मूल्यों को भी पुष्ट करती हैं, और रामकथा को पीढ़ी दर पीढ़ी जीवित रखती हैं। रामकथा के प्रसार में स्थानीय लोक कलाकारों, कथावाचकों, और नृत्य-नाट्य मंडलियों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इन्होंने रामकथा को स्थानीय रंग-रूप और संवेदनाओं के साथ प्रस्तुत किया, जिससे यह जनमानस में गहराई से स्थापित हो

सकी।पूर्वोत्तर भारत में रामधारा, अपनी विविधता, समावेशिता, और सांस्कृतिक संवाद के कारण, भारतीय एकता और सांस्कृतिक समन्वय का अद्भुत उदाहरण है।

भाषाई और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियाँ

अवध से असम तक रामकथा के प्रसार में भाषाई और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। भारत की विविध भाषाएँ और बोलियाँ, क्षेत्रीय साहित्य, लोककला, और सांस्कृतिक परंपराएँ, रामकथा के विभिन्न रूपों को साकार करती हैं।

भाषाई अभिव्यक्तियाँ

अवधी, असमिया, भोजपुरी, मैथिली, बंगाली, मणिपुरी, और अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में रामकथा के अनुवाद और पुनर्लेखन ने इसे स्थानीय समाज में लोकप्रिय बनाया। तुलसीदास की 'रामचरितमानस' (अवधी), माधवकंदली की 'रामायण' (असमिया), कृतिवास ओझा की 'कृतिवासी रामायण' (बंगाली), और अन्य क्षेत्रीय रामायणों ने रामकथा को विविध भाषाई समुदायों तक पहुँचाया।

इन भाषाओं में रचित काव्य, गीत, और नाटकों ने रामकथा को जनमानस के हृदय तक पहुँचाया। उदाहरण के लिए, असमिया रामायण में स्थानीय लोककथाओं, रीति-रिवाजों, और सांस्कृतिक प्रतीकों का समावेश मिलता है, जिससे यह असमिया समाज के लिए अधिक ग्राह्य बन गई।

लोक माध्यम

लोकनाट्य, रामलीला, बिरहा, नौटंकी, सत्रिया नृत्य, बिहू, और अन्य लोक उत्सवों में रामकथा के प्रसंगों का समावेश हुआ। अवध की रामलीला, असम का सत्रिया नृत्य, मणिपुर की रासलीला, और पूर्वोत्तर के अन्य लोकनाट्य, रामकथा के विविध रूपों को प्रस्तुत करते हैं। इन लोक माध्यमों ने न केवल धार्मिक भावनाएँ जागृत कीं, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक संवाद को भी गति दी।

"जननी जन्मभूमिश्चस्वर्गादपिगरीयसी।"

सांस्कृतिक समन्वय

रामकथा ने विभिन्न जातीय, धार्मिक और भाषाई समुदायों के बीच संवाद और एकता को प्रोत्साहित किया। अवध क्षेत्र में मुसलमानों, दलितों, और अन्य समुदायों की रामलीला में भागीदारी, असम में विभिन्न जनजातियों द्वारा रामकथा का मंचन, और पूर्वोत्तर के अन्य राज्यों में रामकथा के स्थानीय संस्करण, सांस्कृतिक समन्वय के उदाहरण हैं।

"राम नाम बिनु गति नहिं कोई।
जौंकरि जतन करै सब कोई।।"

रामकथा के माध्यम से नैतिक शिक्षा, सामाजिक समरसता, और धार्मिक सहिष्णुता का संदेश भी जन-जन तक पहुँचा। राम के आदर्श, सीता की सहनशीलता, लक्ष्मण की सेवा-भावना, और हनुमान की भक्ति, भारतीय समाज के नैतिक मूल्यों के प्रतीक बन गए।

समकालीन संदर्भ

आधुनिक काल में भी रामकथा की भाषाई और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियाँ जीवंत हैं। टेलीविजन, रेडियो, सिनेमा, और सोशल मीडिया के माध्यम से रामकथा का प्रसार हो रहा है। स्कूलों, विश्वविद्यालयों, और सांस्कृतिक संस्थानों में रामकथा पर आधारित प्रतियोगिताएँ, नाटक, और संगोष्ठियाँ आयोजित की जाती हैं। इस प्रकार, भाषाई और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के माध्यम से रामकथा ने भारतीय समाज में न केवल धार्मिक विश्वासों का प्रसार किया, बल्कि सांस्कृतिक एकता, भाषाई समन्वय और सामाजिक समरसता का भी संदेश दिया है। यह प्रक्रिया आज भी निरंतर गतिशील है, और भारतीय सांस्कृतिक चेतना को समृद्ध कर रही है।

अयोध्या से पूर्वोत्तर भारत तक रामभक्ति सेतु: तुलनात्मक सारणी

आयाम	अवध/अयोध्या क्षेत्र	पूर्वोत्तर भारत (असम, मणिपुर, त्रिपुरा, आदि)
भाषा	अवधी, हिंदी, भोजपुरी	असमिया, मणिपुरी, कोकबोरोक, मिज़ो, नागा, बंगाली आदि
मुख्य ग्रंथ/रचनाएँ	रामचरितमानस (तुलसीदास), लोकगीत, बिरहा, नौटंकी	असमिया रामायण (माधवकंदली), मणिपुरीखुल्लोंगइसे ई, त्रिपुरी लोकगीत, मिज़ोसाइकुटीज़ाई
लोक माध्यम	रामलीला, चौपाल, बिरहा, कजरी, नौटंकी	रासलीला, लाइहराओबा, बिहू, सत्रिया नृत्य, लोकगीत, उत्सव
धार्मिक अभिव्यक्ति	मंदिर, अखंड रामायण पाठ, रामनवमी, दशहरा, दीपावली	सत्रों में रामकथा पाठ, उत्सवों में रामलीला, लोकनाट्य, पारंपरिक गीत
सांस्कृतिक समावेश	हिंदू, मुस्लिम, दलित समुदायों की भागीदारी	विभिन्न जनजातीय, बहुभाषी, बहुजातीय समुदायों की भागीदारी
सांस्कृतिक प्रभाव	सामाजिक समरसता, नैतिक शिक्षा, धार्मिक सहिष्णुता	क्षेत्रीय विविधता में एकता, सांस्कृतिक संवाद, धार्मिक सहिष्णुता

यह तुलनात्मक सारणी दर्शाती है कि किस प्रकार अवध/अयोध्या की रामभक्ति परंपरा ने अपने विविध लोक और धार्मिक माध्यमों के ज़रिए पूर्वोत्तर भारत में सांस्कृतिक संवाद और एकता का सेतु निर्मित किया है, और किस तरह क्षेत्रीय भाषाओं, लोकगीतों और उत्सवों ने रामकथा को अपनी सांस्कृतिक पहचान में आत्मसात किया है।

निष्कर्ष

अवध क्षेत्र से लेकर पूर्वोत्तर भारत तक रामभक्ति की सांस्कृतिक यात्रा भारतीय समाज की विविधता में एकता और संवाद की अद्भुत मिसाल प्रस्तुत करती है। अवधी रामकथा, विशेषकर 'रामचरितमानस', ने न केवल उत्तर भारत में बल्कि असम, मणिपुर, त्रिपुरा और अन्य पूर्वोत्तर राज्यों में भी धार्मिक चेतना और सांस्कृतिक समरसता का बीज बोया। इन क्षेत्रों ने अपनी-अपनी भाषाओं, लोकगीतों, नृत्य-नाटकों और उत्सवों के माध्यम से रामकथा को आत्मसात किया और उसे स्थानीय रंग-रूप में ढालकर जनमानस तक पहुँचाया।

पूर्वोत्तर भारत के लोकगीतों—चाहे वह असमिया 'राम नामुहृदयँबसु मोर' हो, मणिपुरी 'Nongpokthongba, leirangthambal...' हो, या त्रिपुरी 'Ramani Ramani, Bwrwibwkha...', सभी ने राम के आदर्शों, संघर्ष और धर्म की स्थापना को स्थानीय संवेदनाओं के साथ जोड़कर सांस्कृतिक संवाद को गहरा किया है।

इन लोक माध्यमों ने न केवल धार्मिक आस्था को सशक्त किया, बल्कि सामाजिक समरसता, नैतिक मूल्यों और क्षेत्रीय विविधता में एकता के भाव को भी पुष्ट किया। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो अवध और पूर्वोत्तर भारत के बीच रामभक्ति की यह सेतु-यात्रा भारतीय संस्कृति के बहुलतावादी, समावेशी और संवादपरक स्वरूप का प्रमाण है। भाषा, लोकमाध्यम और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के माध्यम से रामकथा ने न केवल धार्मिक विश्वासों का विस्तार किया, बल्कि विभिन्न समुदायों, जातियों और भाषाओं के बीच एक गहरा सांस्कृतिक संवाद भी स्थापित किया।

अंततः, रामकथा और रामभक्ति की यह सांस्कृतिक धारा आज भी भारतीय समाज में जीवंत है; नए-नए रूपों में, नई-नई अभिव्यक्तियों के साथ। यह न केवल हमारी सांस्कृतिक विरासत का गौरव है, बल्कि भविष्य के लिए भी एक प्रेरणा-स्रोत है कि किस प्रकार धार्मिक और लोक माध्यमों के जरिए विविधता में एकता और सांस्कृतिक संवाद को सशक्त किया जा सकता है।

*****

लकड़ी से पत्थर तक: साँची स्तूप बाड़े का विकास-क्रमांक 2 स्तूप

डॉ. अश्विनी अस्थाना
पुरातत्ववेत्ता
नई दिल्ली

किसी भी अन्य वास्तुशिल्प घटक की तरह, वेदिका प्रकार या स्तूप के चारों ओर बाड़ा(रेलिंग)भी उस समय या उससे पहले प्रचलित वैदिक कला और वास्तुकला से किसी न किसी रूप में ली गई है। पाली में, प्रकार शब्द परिक्खेप के साथ एक यौगिक बनाता है, जिसका अर्थ है 'घेरा' और इसमें ऊपरी भाग-उष्णिशा, ऊपर-दायां स्तंभ-स्तंभ, क्रॉस बार-सुची और आधार-अधिष्ठान शामिल हैं।ऐसा प्रतीत होता है कि बोलन दर्रे पर 'मेहरगढ़' में खुदाई से मिले साक्ष्यों के आधार पर, अवधि - 6000 ई.पू. (ए-सिरेमिक नवपाषाण चरण) कि नवपाषाण लोगों ने बकरी, भेड़, मवेशी आदि जैसे जानवरों को बांस या लकड़ी की छड़ियों से बने बाड़ा (रेलिंग)(मवेशी बाड़े का प्रमाण) के भीतर अपनी रक्षा के लिए ठीक उसी तरह पालतू बनाया जैसे कि "वेदिका" को उनकी वास्तुकला के प्रमाण की विधि द्वारा महसूस किया जा सकता है।

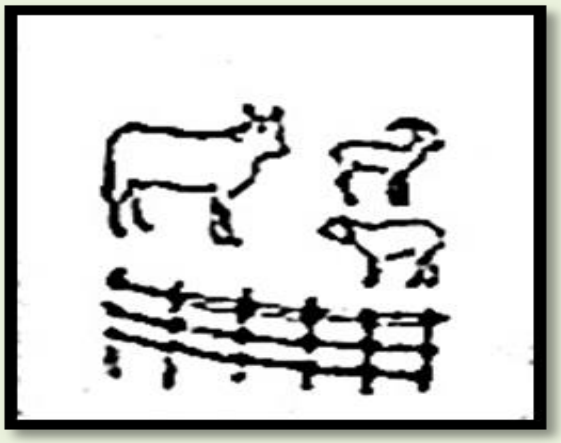

मेहरगढ़, 6000 ईसा पूर्व बांस या लकड़ी के डंडों से बना बाड़ा

हड़प्पा काल में वृक्ष पूजा का प्रचलन था। हड़प्पा के लोग वृक्ष की सुरक्षा और अन्य पवित्र उद्देश्यों के लिए वृक्ष के चारों ओर बाड़े भी लगाते थे। हड़प्पा स्थल की खुदाई के दौरान मिली कई मुहरें इस तथ्य को साबित करती हैं कि हड़प्पा काल में वृक्ष देवता की रक्षा के लिए लकड़ी या बांस का बाड़ा लगाया जाताथा । मुहरें दर्शाती हैं कि इस अवधि के दौरान वृक्ष पूजा बहुत लोकप्रिय थी।वैदिक काल में भी वृक्ष पूजा प्रचलित थी। इसे चैत्य वृक्ष कहा जाता था। रोचक बात यह है कि चैत्य शब्द केवल पवित्र वृक्ष के लिए ही प्रयुक्त नहीं होता था बल्कि कोई भी वस्तु जिसे पूजा जाता था—चाहे वह स्मारक पत्थर हो, मूर्तियाँ हों, यूप हो या यज्ञ का पवित्र स्थल—उसे भी चैत्य कहा जाता था।

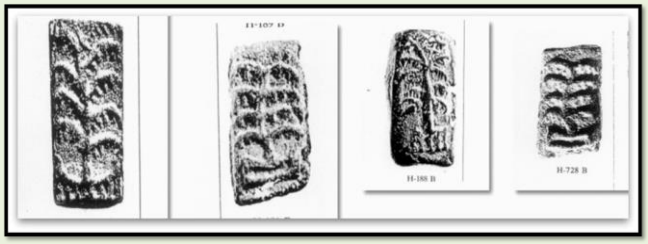

हड़प्पा मोहरों पर बाड़ा के भीतर पेड़ का चित्र

ये 'चैत्य पासाद', 'चैत्य यूप', 'चैत्य वृक्ष' और चातुस चैत्य (जो चार सड़कों के अंत पर स्थित है, बुद्ध ने आनंद को अपने पार्थिव अवशेषों को चार सड़कों के चौराहे पर स्तूप में दफनाने का निर्देश दिया, जैसे चातुस चैत्य) के रूप में कहे जाते हैं। इसका उल्लेख "महापरिनिब्बाण सुत्तनत, – 'समाप्तौ तस्यम् शरिरानी चिनवन्ति चातुर्महपथे स्तूपम् स्थापयन्ति....' में है। यज्ञ-स्थान के अर्थ में चैत्य 'आश्वलायन गृह्य सूत्र' में आया है, यह पाठ संभवतः छह शताब्दी ई.पू. से पहले लिखा गया था। महाभारत में चैत्य यूप सटांकित का उल्लेख है----यह कहता है राजन्सर्वथा परिराक्षिते! विभुव

रमणीयश्च चैत्य-यूप शतांकिता "भीष्मेन धर्मतो!!" (I ii 8. 13) ये चैत्य संभवतः वैदिक या प्राकार की दीवार से घिरे हुए हैं, जो ईंट, मिट्टी या पत्थर से पवित्र उद्देश्यों के लिए बने हैं। कुछ पूर्व-मौर्य पंच-चिह्नित सिक्कों में बाड़ा(रेलिंग) रूपांकन में पेड़ का चित्रण भी इस तथ्य की पुष्टि करता है। कुछ विवरण पुराने संहिताओं में भी पाए जाते हैं, जिनमें यज्ञ की पवित्र चीजों को मिट्टी के थूपा में ढेर किया जाता है। तैत्तिरीय संहिता का पाँचवाँ कांड सितय (5. I.8.4) के बारे में निम्नलिखित पंक्तियाँ कहता है—रूपानी सर्वानी रूपानी अग्नौ चित्या क्रियन्ते तस्मात् एताः अग्नेः चित्यास्य। (5.I.8.4.), यह एक अग्नि चित्या के बारे में कहता है जिसमें आहुति दी जाती है। इसका अर्थ है 'चयन'। चयन अनुष्ठान में पवित्र राख और बलिदानों को इकट्ठा करना और उन्हें एक निश्चित स्थान पर ढेर करना शामिल था, जो स्पष्ट रूप से पत्थर, ईंट या यहां तक कि मिट्टी की दीवारों से घिरा हुआ था। इसके पीछे का कारण यज्ञ से संबंधित चीजों को ग्रामीणों या जानवरों से पवित्र रखना है। स्मारक के रूप में यूप को चैत्य यज्ञ के पास बलि के जानवर को बांधने के लिए भी खड़ा किया गया था। ऐसा लगता है कि इस पूरी संरचना में मिट्टी का थूपा (अंडे के रूप में), उसके चारों ओर बाड़ा(वेदिका के रूप में) और यूप (स्तंभ के रूप में) शामिल हैं, जो बौद्ध स्तूप वास्तुकला से प्रेरित हैं। इस प्रकार इसे स्तूप के मूल आद्यरूप (प्रोटोटाइप) के रूप में दर्शाया जा सकता है।

शब्द कल्पद्रुम में इस चैत्य संरचना का उल्लेख है, जिसमें भरत के एक प्राचीन पाठ का हवाला देते हुए संकेत दिया गया है कि चैत्य एक यज्ञस्थान है। यह एक पवित्र स्थान है जो यज्ञ के प्रदर्शन के लिए अलग रखा गया है।

"बुद्ध के समय में भी "चैत्य" एक लोकप्रिय पंथ था। दीघ निकाय के अनुसार उन्होंने उदेना, गोतम और सत्तंबक चैत्य का दौरा किया। वे भोजनगर में आनंद चैत्य में भी रहे। ऐसा ही एक चैत्य, 'बहुपुत्त चैत्य' जिसे (दूसरी शताब्दी ई.पू.) में भी वर्गीकरण किया गया है, बुद्ध द्वारा दौरा किए गए अमरावती स्तूप की राहत में से एक में दर्शाया गया है। यह वृक्ष चैत्य भी बाड़े के भीतर दिखाया गया है।

पत्थर से बनी चारदीवारी या प्राकार के रूप में वेदिका का वर्णन गोपुर विधानम के मनसेरा पाठ में भी किया गया है।इस प्रकार, चैत्य भारत की सबसे पुरानी धार्मिक संरचना है। इन धार्मिक संरचनाओं की पूजा ईसा पूर्व 7वीं-8वीं शताब्दी में प्रचलित थी। ऐसा प्रतीत होता है कि यह केवल एक मिट्टी का मंच था जिस पर पवित्र वस्तुएं रखी जा सकती थीं, जिसमें प्रसाद के लिए बहुत कम अतिरिक्त जगह थी।

चारदीवारी या प्राकार के रूप में वेदिका का वर्णन गोपुर विधानम के मनसेरा पाठ में भी किया गया है। समय के साथ बुद्ध की मृत्यु के तुरंत बाद बने स्तूप की वास्तुकला में एक स्वाभाविक विकास हुआ, इसे सभी तरफ से घेरने की इच्छा थी, घेरा बाड़ा था। इस घेरे को वेदिका कहा जाता था, जो वैदिक यज्ञ की वास्तुकला से लिया गया शब्द था। इसकी उत्पत्ति वेदी नामक यज्ञ वेदियों से हुई थी और ऐसा लगता है कि यह मूल रूप से अग्नि वेदियों के चारों ओर निर्मित संरचना का प्रतीक है। बाड़ाया वेदिका रचना किसी धार्मिक या दैवीय स्मारक की सीमा को चिह्नित करने का प्रतीक था जिसे बलि के अवशेषों की लकड़ी या मिट्टी की वास्तुकला से उधार लिया गया था। उसी रूप को बाद में पूजा की किसी भी पवित्र वस्तु के चारों ओर एक घेरे तक बढ़ा दिया गया; स्मारक स्तंभ, पवित्र बोधि वृक्ष, पवित्र आसन (बोधगया में वज्रासन), स्तूप आदि।

यद्यपि स्तूप और वृक्ष पूजा बुद्ध से पहले प्रचलन में थी, लेकिन बाद में पूजा के बर्तनों के दोनों रूपों को बौद्ध प्रतियोगिता में अपनाया गया, स्तूप को 'तथागत' के प्रतीक के रूप में और वृक्ष को एक पवित्र स्थान के रूप में, जिसके नीचे बुद्ध ने ध्यान किया था। ब्राह्मणवादी स्तूप की परंपरा के संबंध में, सांची (स्तूप संख्या 1) की एक उभरी हुई नक्काशीमें एक दिलचस्प उदाहरण देखा गया है, जिसमें पृष्ठभूमि में स्तूप (बाड़े के भीतर) के साथ अग्नि-यज्ञ में लगे जटिला तपस्वियों को दर्शाया गया है, जो ब्राह्मणवादी मूल के जटिल पंथ के साथ उनके संबंध का सुझाव देते हैं।

बाड़ा के भीतर प्रारंभिक स्तूप को दिखाते हुए सांची स्तूप की उभरी हुई नक्काशी की तस्वीर

एच. सरकार ने सही ढंग से व्यक्त किया कि भारत में बौद्ध वास्तुकला विचारधारा की तीन मुख्य धाराओं का पालन करती है, अर्थात, (I) चित्य पूजा, बोधि-वृक्ष-प्रसाद की अवधारणा में परिणत, (II) स्मारक के रूप में स्तूप बाद में गुरु के अनिकोनिक प्रतिनिधित्व का प्रतीक है, और (III) इन दोनों अवधारणाओं के संयोजन के परिणामस्वरूप उद्भव हुआ भरहुत, साँची, अमरावती आदि के घिरे हुए स्तूप प्रारंभिक काल में स्तूप की संरचना लकड़ी की बाड़े के साथ मिट्टी की प्रतीत होती है। प्रारंभिक स्मारकप्रकार के स्तूप में अपनी प्रकृति के कारण संभवतः एक उभरे हुए टीले के अलावा कोई स्पष्ट घटक नहीं था। वैशाली में सबसे पुराने स्तूप अवशेषों की खुदाई में साइट पर बाड़ाया खंभा लगाने का गड्ढा का कोई निशान नहीं दिखा। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध की मृत्यु के कुछ समय बाद स्तूप के चारों ओर लकड़ी की बाड़ों का निर्माण प्रारम्भ किया गया था। स्तूप और वेदिका के बीच का स्थान परिक्रमा और अन्य अनुष्ठान प्रयोजनों के लिए छोड़ दिया गया था।

प्रारंभिक स्मारक प्रकार के स्तूप में अपनी प्रकृति के कारण संभवतः एक उभरे हुए टीले के अलावा कोई स्पष्ट घटक नहीं था। वैशाली में सबसे पुराने स्तूप अवशेषों की खुदाई में साइट पर बाड़ा या खंभा लगाने का गड्ढा का कोई निशान नहीं दिखा। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध की मृत्यु के कुछ समय बाद स्तूप के चारों ओर लकड़ी की बाड़ों का निर्माण प्रारम्भ किया गया था। स्तूप और वेदिका के बीच का स्थान परिक्रमा और अन्य अनुष्ठान प्रयोजनों के लिए छोड़ दिया गया था। वेदिका क्षेत्रीय अभिव्यक्ति का परिणाम हो सकता है, या बौद्ध धर्म के संप्रदायों और उप-संप्रदायों की विभिन्न विचारधाराओं का उत्पाद हो सकता है, उनमें से कुछ पवित्र संरचना को सुरक्षा प्रदान करने की इच्छा से प्रेरित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पत्थर की बाड़सुरक्षा प्रदान करने और पवित्र स्थान यानी स्तूप की पवित्रता बनाए रखने के लिए जोड़ी गई है।

सांची स्तूप में पिछले बुद्ध के बोधि वृक्ष को दर्शाने वाला चित्र, पूर्वी द्वार का तोरण, भीतरी चेहरा

सांची स्तूप क्रमांक 2 की स्तूप बाड़ा भक्तों द्वारा पूजे जाने वाले स्तंभ के चारों ओर वेदिका बाड़ों के निर्माण को दर्शाता है। पवित्र वृक्ष के चारों ओर बाड़ेलगाने से भी संरचना घन (हर्मिका) के रूप में विकसित हुई। यहां फिर से विकसित वैचारिक दुनिया पूर्व-बौद्ध है, क्योंकि हार्मिका हमें वैदिक भारत में गांवों के केंद्र में पवित्र वृक्ष की रक्षा करने वाली बाड़ों की याद दिलाती है, और शायद उत्तरवेदी (ऊंची वेदी) का एक बौद्ध संस्करण भी। अशोक ने सारनाथ में धर्मराजिका स्तूप के शीर्ष पर छत्रावली के चारों ओर एक चिकनाहट अखंड बाड़े बनवाई। सांची स्तूप क्रमांक 2 की स्तूप बाड़ा भक्तों द्वारा पूजे जाने वाले स्तंभ के चारों ओर वेदिका बाड़े के निर्माण को दर्शाता है। पवित्र वृक्ष के चारों ओर बाड़ लगाने से भी संरचना घन (हर्मिका) के रूप में विकसित हुई। यहां फिर से विकसित वैचारिक दुनिया पूर्व-बौद्ध है, क्योंकि हार्मिका हमें वैदिक भारत में गांवों के केंद्र में पवित्र वृक्ष की रक्षा करने वाली बाड़ों की याद दिलाती है, और शायद उत्तरवेदी (ऊंची वेदी) का एक बौद्ध संस्करण भी। अशोक ने सारनाथ में धर्मराजिका स्तूप के शीर्ष पर छत्रावली के चारों ओर एक पॉलिश अखंड बाड़े बनवाई।

शुंग काल में लकड़ी के बाड़ा का स्थान पूरी तरह से पत्थर के बाड़ों ने ले लिया। साँची स्तूप क्रमांक 1 का बाड़ा नक्काशी रहित है, हो सकता है कि जब इसे खड़ा किया गया था तब बाड़ों पर नक्काशी शुरू नहीं हुई होगी। धीरे-धीरे बाड़ों पर नक्काशी शुरू हुई जैसा कि स्तूप क्रमांक 2 का बाड़ा देखा जा सकता है। एन.आर. के अनुसार बाड़ों पर यह नक्काशी मूल रूप से बुद्ध के जीवनकाल में प्रचलितचरण-चित्र या आद्यरूपचित्र गैलरी का प्रतिनिधित्व करती है। पाली सिद्धान्त के संयुक्त निकाय खंड में एक अलग मार्ग में चरण-चित्रा के रूप में वर्णित चित्र दीर्घाओं के कई संदर्भ शामिल हैं, जिनके बारे में बुद्ध ने अत्यधिक बात की थी और इसमें शामिल थे, बुद्धघोष के अनुसार, ये चित्र मृत्यु के बाद पुरुषों के खुश और दुखी भाग्य के हैं, जिनके साथ उचित लेबल जुड़े हुए हैं और आद्यरूपदीर्घाओं में दिखाए गए हैं। जब उनके भिक्षुओं ने इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर दिया कि क्या उन्होंने करण-चित्रास या "भटकती हुई तस्वीरें" देखी हैं, तो बुद्ध ने चित्रकार के काम की तुलना भ्रम की दुनिया को रचने की मन की क्षमता से की। ऐसे चित्रित घूंघर तब हमारी प्रारंभिक पत्थर कथाओं के अग्रदूत रहे होंगे; इस परंपरा का अनुसरण करते हुए हमें भरहुत, पौनी और अमरावती स्तूप की वेदिका पर नक्काशीदार जातक कहानियों और बुद्ध के जीवन के दृश्यों के पास उत्कीर्ण लेबल मिलते हैं। बहुत उभरी हुई नक्काशी, चाहे आयताकार पैनलों में हो या पदकों में, उचित लेबल के साथ चरण-चित्र के अलावा और कुछ नहीं है, पत्थर में अनुवादित और इसलिए सुवाह्य नहीं है।

सांची में स्तूप संख्या 2 में बाड़ा के भीतर अशोक स्तंभ दिखाते हुए चित्र

बौद्ध वास्तुकला के प्रारंभिक चरण को प्रतिबिंबित करने वाला एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर सांची स्तूप संख्या 2 में स्तूप था। यह प्राचीनतम पत्थर की बाड़ का उदाहरण है, आकार और निर्माण में यह लगभग स्तूप संख्या 1की प्रतिकृति थी।, दोनों के बीच मुख्य अंतर 88 स्तंभों सहित आधार बाड़ की सजावट है, तीन रेलिंग थीं, एक आधार बाड़ के रूप में, दूसरी बरम बाड़ा सीढ़ियों से आती थी और तीसरी हार्मिका के चारों ओर शीर्ष पर थी, लेकिन आधार बाड़े को कई उभरी हुई नक्काशी के साथ उकेरा गया है जो बाड़े को अद्वितीय मूल्य देता है और इसे भारतीय कला के इतिहास में बौद्ध धर्म से कम नहीं एक उत्कृष्ट मील का पत्थर बनाता है।

सांची स्तूप का सामान्य दृश्य

सांची स्तूप क्रमांक 2 पर उकेरी गई बाड़ें की कला:

कमल के विभिन्न रूपों के साथ जटिल रूप से नक्काशीदार, चक्र पर चढ़े स्तंभ; स्तूप; और बोधि वृक्ष पूजा दृश्य, जातक कथाएँ, गज-लक्ष्मी, विभिन्न प्रकार के पौराणिक जानवर और अन्य जानवर जैसे हाथी, घोड़ा, शेर, बैल, साँप, हंस, हिरण, मगरमच्छ, कछुआ, मोर, ऊँट, और ऊँट सवार, शुभ संकेत। श्री-वत्स पूर्णघट, पदम, नंदी पद, बुद्ध का जीवन दृश्य। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, विषय स्तंभों के आधे और पूर्ण फुल्लिकापर दिखाया गया है, जहां प्रचलित लोक पंथों के आधार पर व्यवस्थित किया गया है, जैसा कि कलाकारों और मूर्तिकारों द्वारा व्याख्या की गई है, जो घरेलू और लोक कला से प्रेरणा लेते प्रतीत होते हैं। पहली चीज़ जो प्रभावित करती है वह है कमल और उसकी अनंत आकृतियों वाली लहरदार लता। कमल को पूर्ण विकसित फूलों, कलियों, पत्तियों में और या तो पारंपरिक रूप में या प्राकृतिक रूप में उगते हुए उकेरा गया है। कमल की लता और फूलों की नक्काशी स्वयं कमल के एक जटिल पंथ का परिणाम थी जो प्राचीन काल से चली आ रही थी। वी.एस.अग्रवाल के अनुसार "पृथ्वी और स्वर्ग दोनों को समाहित करने वाली कमल की माला की कल्पना वैदिक थी। श्री-लक्ष्मी का पंथ भी वैदिक मूल का है और दोनों स्वतंत्र रूप से एक-दूसरे के साथ घुलमिल गए, जिसका सकारात्मक परिणाम यह हुआ कि लक्ष्मी की कल्पना पद्मिनी देवी या कमल के रूप में की गई, जो कमल के बीच खड़ी थी, कमल की माला पहने हुए थी या दोनों हाथों में कमल लिए हुए थी या कमल और पत्तियों से भरे फूलदान पर खड़ी थी, कभी-कभी हाथियों द्वारा उस पर पानी छिड़का जाता था, वह कमल के फूलों पर भी खड़ी होती थी। सांची स्तूप संख्या 2 पर प्रदर्शित प्रारंभिक भारतीय कला को दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व की अंतिम तिमाही में शिलालेखों की शैली और पुरालेख के आधार पर तय किया जा सकता है। छोटी बाड़ेंकीसीढ़ी से संबंधित है, पटरीऔर हरमिका आकार और निर्माण दोनों में स्तूप 3 के समान हैं। सीढ़ी के ऊपरी हिस्से को उनके आंतरिक और बाहरी दोनों चेहरों पर अलग-अलग आकारके एक पूर्ण और दो आधे चक्रके साथ पुनर्जीवित किया गया है। भूमि पर उतारवाली बाड़ेंके अंदरूनी चेहरे पर भी इसी तरह के पुष्प फुल्लिका उकेरे गए हैं, लेकिन उतारवाली बाड़ें के बाहरी चेहरे के अंदरूनी चेहरे पर फुल्लिकाउकेरे गए हैं, लेकिन बाहरी चेहरों को फुल्लिकाके बीच नक्काशी के संकीर्ण पट्टीसे सजाया गया है। दूसरी ओर दूसरी परिक्रमा के पटरीबाड़े या स्तंभों में केवल सादे चक्रपदक हैं, जिनके आंतरिक भाग पर केंद्रीय पदक कुछ हद तक छोड़े गए हैं। लेकिन इस उभरे हुए कगार के स्तंभों के बाहरी चेहरे पर चक्रको कमल के रचना और अन्य पुष्प या पशु उपकरणों से उकेरा गया है; जैसे एक शेर, एक बैल, या एक हाथी. हार्मिका का मुकाबला भी इसके आंतरिक भाग पर पूर्ण विकसित कमलों की एक पंक्ति से सजाया गया है। सांची स्तूप संख्या 2 की राहत स्पष्ट रूप से भारतीय कलाकारों का काम है जो मुख्य रूप से मिट्टी की प्रतिमा, लकड़ी और हाथी दांत की नक्काशी और तकनीक को दोहराने के आदी थे, लेकिन बड़े पैमाने पर पत्थर की नक्काशी के आदी नहीं थे। मार्शल गलत नहीं थे जब उन्होंने स्तूप संख्या 2 की राहत को भारत की स्वदेशी कला के लिए शुरुआती बिंदु के रूप में बताया। इस धारणा के प्रकाश को तीसरे आयाम की खोज कहा जा सकता है, और ये उभरी हुई नक्काशी उन उपकरणों का उदाहरण देती हैं जिन्हें कलाकारों ने इस उद्देश्य के लिए अपनाया था। साँची के प्रारंभिक भारतीय कलाकार स्तूप क्रमांक. 2 ने समस्या के मौर्य समाधान की उपेक्षा की; वास्तव में उनका मौर्य परंपरा से कोई लेना-देना नहीं था और वे समस्या को अपने तरीके से और अपनी परंपरा के अनुसार हल करना चाहते थे। यहां नक्काशी अनिवार्य रूप से धार्मिक दृष्टिकोण को दर्शाती है, न कि कलात्मक। फूलों, जानवरों, मनुष्यों और दिव्य आकृतियों सहित सजावटी बनावटकी टुकड़ी पारंपरिक थी और वैदिक, बौद्ध और जैन आगमिक साहित्य में पाए जाने वाले प्रदर्शनों से उधार ली गई थी। रायपसेनिया सुत्त में दिए गए कमल बाड़ों (पद्मवर वेदिका) के वर्णन में, हमें ऐसे सजावटी रूपांकनों की पारंपरिक सूची मिलती है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि सजावटी सजावट के इन रूपांकनों का उपयोग कई शताब्दियों से लकड़ी के निर्माण में किया जा रहा था, जहाँ से पत्थर तराशने वालों ने इन्हें पूरी सुविधा के साथ उधार लिया था।

*****

राजभाषा प्रभाग द्वारा आयोजित राजभाषा हिंदी कार्यशाला

मंत्रालय के रिक्रिएशन क्लब द्वारा आयोजित चित्रकला प्रतियोगिता

नई दिल्ली के ऐतिहासिक किला राय पिथौरा में भगवान बुद्ध के पवित्र अवशेषों की उपस्थिति प्रत्येक भारतीय के लिए एक गौरवशाली क्षण है। औपनिवेशिक काल के दौरान दूर गए इन बहुमूल्य अवशेषों और रत्नों को लगभग 127 वर्षों के लंबे इंतजार के बाद वापस भारत लाया गया। संस्कृति मंत्रालय द्वारा राय पिथौरा परिसर में ''दि लाइट एंड दि लोट्स: रैलिक्स ऑफ अवेकंड वन'' नाम से एक आध्यात्मिक प्रदर्शनी लगाई गई। भारत सरकार के अनुसार, भगवान बुद्ध के ये अवशेष हमारी जीवित सभ्यता और आध्यात्मिक विरासत का एक अटूट हिस्सा हैं जो पूरी मानवता को आपस में जोड़ती हैं। उनके अवशेष हमें याद दिलाते हैं कि आज के अशांत युग में भी शांति, आपसी भाईचारा और जीवों के प्रति दया ही दुनिया को सभ्य बना सकती है।

संस्कृति मंत्रालय
भारत सरकार